प्रकाशक :
साहित्य-विभाग :
आदर्श-साहित्य-संघ
सरदारशहर (राजस्थान)

★ आत्म-शिक्षण-माला ★

मुद्रक :
मदनकुमार मेहता
रेफिल आर्ट प्रेस
(आदर्श-साहित्य-संघ द्वारा संचालित)
३१, बड़तल्ला स्ट्रीट
कलकत्ता ।

प्रकाशकीय

बालक राष्ट्रकी सम्पत्ति है। यही आगे जाकर एक दिन देशके भाग्य-निर्माता बनेंगे। यही भावी संसारके भावी नागरिक हैं, जिनके नये हाथोंमें नव-निर्माणकी नई कल्पना की जा सकती है। जिसके लिये आवश्यकता है—नैतिक-शिक्षा और शिक्षणके उचित तरीकों द्वारा उनमें सुसंस्कार जागृत किये जायें व उनकी सुकुमार भावनाओंको अभीसे चरित्र-निर्माणकारी प्रवृत्तियोंमें केन्द्रित की जाय। यह हर्पका विपय है कि समूचे देशका ध्यान इस ओर आकर्पित हुआ है।

जैन-दर्शन और उसके साहित्यका भारतीय वाङ्मयमें एक महत्वपूर्ण स्थान है। उसकी शिक्षाएं न सिर्फ त्याग और वलिदानको लेकर वरन् नागरिक-जीवनके निर्माणमें भी अत्यन्त उपयोगी हैं। उसके तत्त्व विशाल और सार्वदेशिक है, जो जीवन-विज्ञानका वोध करानेमे सूक्ष्म और एक अनूठी ज्ञान-राशि हैं, जिसको आजकी लोक-भापा और जन-साहित्यमे रखनेकी जरूरत है। इसी उद्देश्यको लेकर भारतीय व जैन-दर्शनके अनन्य विद्वान आचार्य श्री तुलसीके तत्वावधानमें इस

तरहके शिक्षा-क्रमका निर्माण हो रहा है, जो निःसन्देह आध्यात्मिक ज्ञानके साथ बालकोंके चरित्र-निर्माणमें अत्यन्त लोकोपयोगी है। यह आजके नैतिक साहित्यकी एक नई देन है।

प्रस्तुत शिक्षा-क्रमके संग्रहमें आ० सा० संघके संकलन विभागके कार्यकर्त्ताओंके अतिरिक्त कुछ उत्साही साथियोंने पूरा योग दिया है। 'धर्मबोध' का यह तृतीय भाग है। अन्य भाग भी क्रमशः शीघ्र प्रकाशित होंगे। जिसका संयोजित प्रयास जारी है।

आचार्य श्री तुलसी इस युगकी एक महान् आध्यात्मिक विभूति हैं। जिनके नेतृत्वमें मुनि श्री नथमलजीकी यह ज्ञान-राशि पाकर हम अत्यन्त आत्म-गौरवका अनुभव कर रहे है।

साहित्य-विभाग
आदर्श-साहित्य-संघ } प्रकाशन मन्त्री

कुछ एक

प्रस्तुत पुस्तक धर्म-बोधका तीसरा भाग है। इसमें क्रमिक योग्यतानुसार विषय कुछ गंभीर बना है। जैन-तत्व-ज्ञान अपने-आप गहन है। उसे सहजतया बुद्धिगम्य करना सुलभ नहीं। फिर भी विषयको यथा साध्य सरल किया गया है। संभव है, जिज्ञासुगण विषयकी गहनता देखते हुए इसे कठिन अनुभव नहीं करेंगे। धार्मिक शिक्षाके साथ-साथ नैतिक ज्ञानका भी संकलन किया गया है। "आत्माका अस्तित्व कर्म, आत्मा और कर्मका सम्बन्ध कैसे" आदि-आदि विषयोंका अध्ययन प्रत्येक जिज्ञासु व्यक्तिके लिए आवश्यक है। धर्मकी विशुद्ध-परम्पराको जीवित रखनेके लिए धार्मिकको निष्पक्ष, समताभावी और उदार रहनेकी आवश्यकता है। धर्मके अन्तस्तलमें पहुंचे विना चैतन्यका जागरण करना संभव नहीं इसलिए धर्मका सतत अनुशीलन जीवनका महान्-पुनीत कार्य है।

सं० २००७ चैत्रकृष्णा १३,
हांसी (पंजाब)

—मुनि नथमल

धर्मबोध 'आत्म-शिक्षण-माला' का तीसरा पुष्प है। जिसका उद्देश्य सरल और सुबोध भाषामें तत्त्व-ज्ञानके साथ बालकों का चरित्र-निर्माण करना है। जिसके सुश्रृङ्खलित प्रकाशनमें चुरू (राजस्थान) के अनन्य साहित्यप्रेमी श्री हनूतमलजी सुरानाने अपने स्वर्गीय पिता श्री मन्नालालजी की स्मृतिमें नैतिक सहयोग के साथ आर्थिक योग देकर अपनी सांस्कृतिक व साहित्यिक-सुरुचिका परिचय दिया है, जो सबके लिये अनुकरणीय है। हम 'आदर्श-साहित्य-संघ' की ओरसे सादर आभार प्रकट करते हैं।

—प्रकाशन मंत्री

अनुक्रम

दुमपत्तए पंडुरए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए॥

जिस प्रकार पका हुआ वृक्षका पत्ता थोड़े ही अर्सेमें वृक्षसे गिर जाता है, वैसे ही मनुष्योंका जीवन थोड़ेमें नष्ट होनेवाला है—क्षणभंगुर है। इसीलिए हे गौतम ! तू एक क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर—एक क्षणको भी व्यर्थ मत गंवा।

—उत्तराध्ययन १०—१

१

धर्मकी जय

शान्ति-निकेतन सत्यधर्म की जय हो जय।
करुणा-केतन जैन-धर्म की जय हो जय॥

विश्व-मैत्री की भव्य भित्ति पर,
सत्य अहिंसा के खम्भों पर।
टिका हुआ है महल मनोहर,
सदा सचेतन सत्यधर्म की—
जय हो जय॥ १॥

अनेकान्त भण्डा लहराये,
जिन-प्रवचन महिमा महकाये।
साम्यभाव का सबक सिखाये,
संकट-मोचन सत्यधर्म की—
जय हो जय॥ २॥

वर्ण-जाति का भेद न जिसमें,
लिङ्ग-रङ्ग का छेद न जिसमें।
निर्धन-धनिक विभेद न जिसमें,
समता-शासन सत्य धर्म की—
जय हो जय ॥ ३ ॥

कर्मवाद की कठिन समस्या,
हल कर देती जास तपस्या।
नहीं, फल - भुक्ति ईश्वर वश्या,
व्यक्ति-विकासन सत्यधर्म की—
जय हो जय ॥ ४ ॥

शाश्वत अखिल विश्व को माना,
नहीं कर्ता - हर्ता कोई जाना।
'तुलसी' जैन - तत्त्व पहिचाना,
बोलो सब मिल सत्यधर्म की—
जय हो जय ॥ ५ ॥

अभ्यास

१—धर्मकी भित्ति क्या है ?

२—सत्यधर्मका स्वरूप बताओ ?

३—इस गीतिकाके कोई दो पद्य सुनाओ ?

२

द्रव्य, गुण और पर्याय

'है' (वर्तमान) 'था' (अतीत) और 'होगा' (भविष्य) का संकलन करनेवाला है—जोड़नेवाला है। 'है' के विना 'था' एवं 'होगा' का कोई भी मूल्य नही रहता। इसका अर्थ यह है कि हम जिस वस्तुका जब कभी एक वार ही अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं तो हमें यह मानना पड़ता है कि वह वस्तु उससे पहले भी थी और वादमें रहेगी। यह नहीं कि वह एक ही अवस्थामें रहती आई है या रहेगी किन्तु यह निश्चित है कि उसके अस्तित्वका लोप नहीं होता। भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें परिवर्तित होते हुए भी उस वस्तुके मौलिक स्वरूप एवं शक्तिका नाश नहीं होता। दार्शनिक परिभाषामें वही द्रव्य कहा जाता है। जैसे 'गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्' अर्थात् जिसमें गुण एवं पर्यायें—अवस्थाएं होती हैं, वह द्रव्य है।

द्रव्य शब्दकी उत्पत्ति भी इसी अर्थमें हुई है कि जिस वस्तुने

भिन्न-भिन्न अवस्थाएं प्राप्त की, कर रही है और करेगी, वह द्रव्य है। इसका फलित अर्थ यह है—अवस्थाओंका उत्पाद एवं विनाश होते रहने पर भी जो ध्रुव रहता है, वही द्रव्य है।

हम दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि अवस्थाएँ उसीमें उत्पन्न एवं नष्ट होती हैं, जो ध्रुव रहता है। क्योंकि एक ध्रुव आधारके विना पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती अवस्थाओंका सम्बन्ध नहीं रह सकता। हम और भी सरलतामें जायें तो द्रव्यकी यह भी परिभाषा कर सकते हैं—पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती अवस्थाओंका जो आधार है, वह द्रव्य है।

द्रव्यमें दो प्रकारके धर्म (स्वभाव) होते हैं। एक तो वह, जो हरवक्त द्रव्यके साथ रहे—द्रव्यको छोड़कर कहीं अन्यत्र न जा सके और दूसरा वह जो क्रमशः बदलता रहे ये दोनों क्रमशः गुण और पर्याय कहलाते हैं। जैसे—"यावद् द्रव्यभावी धर्मोगुणः" अर्थात् निरन्तर द्रव्यके साथ रहनेवाला धर्म गुण है। 'अवस्थान्तरं पर्यायः' द्रव्य और गुणकीक्रमिक अवस्था बदलती है, वह पर्याय है।

द्रव्य छः हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। इनके क्रमशः ये गुण हैं—गति-सहायक, स्थिति-सहायक, आश्रयदान, वर्तना, वर्ण-गन्ध-रस और स्पर्श तथा ज्ञान-दर्शन सुख एवं वीर्य। यद्यपि गुण और भी बहुत हैं पर यहां पर वे ही गुण बतलाये गये हैं, जो विशेष गुण हैं एवं जिनके द्वारा द्रव्योंका पृथक् अस्तित्व माना गया है।

द्रव्य छः इसलिए माने गये हैं कि इनके ये गुण एक दूसरेसे

नहीं मिलते। जिसमें त्रिकाल सहचारी कोई भी विशेष गुण न हो, वह स्वतन्त्र द्रव्य नहीं होता। हमें इन विशेष गुणोंके सिवाय कोई भी ऐसा गुण नहीं मिलता जो अनेक द्रव्योंमें न मिलता हो और जो गुण अनेक द्रव्योंमें मिले उससे हम किसी एक स्वतन्त्र द्रव्यका अस्तित्व नहीं मान सकते। इसलिए द्रव्य छः ही हैं। प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायाएं अनन्त होती हैं।

अभ्यास

१—द्रव्य किसे कहते हैं ?

२—द्रव्य छः ही क्यों ?

३—गुण किसे कहते हैं ?

४—द्रव्यकी पूर्व पर्याय नष्ट होनेपर भी उसका अस्तित्व क्यों माना जाता है ?

३

केशी गौतम सम्वाद

यों तो यह स्पष्ट है कि भगवान् पार्श्वनाथने सत्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह—इन चार व्रतोंका उपदेश दिया जिनमें ब्रह्मचर्यको सम्मिलित कर भगवान् महावीरने पंच महाव्रतोंका उपदेश किया पर यह बतानेके लिए कि उपर्युक्त दोनों तीर्थङ्करोंके सैद्धान्तिक मतभेद क्या थे, अत्यधिक अध्ययनकी आवश्यकता है। यहां हम उतनी गहराई तक न जाकर भगवान् पार्श्वनाथके शिष्य केशीकुमार और भगवान् महावीरके शिष्य गौतममें हुआ शास्त्रार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे उपर्युक्त दोनों तीर्थङ्करोंके सिद्धान्तोंका बहुत कुछ आभास मिल सकता है।

जैन आगमोंमें बताया गया है कि भगवान् पार्श्वनाथ परिषहको जीतनेवाले, अर्हत्, लोकपूजित, सम्बुद्धात्मा, सर्वज्ञ तथा धर्मरूप तीर्थको चलाने और समस्त कर्मोंको क्षय करनेवाले थे। केशीकुमार उन्हीं लोक-प्रदीप भगवान् पार्श्वनाथके प्रसिद्ध शिष्य थे जो विद्या और चारित्रमें परिपूर्ण तथा अवधि और श्रुत-ज्ञानसे

पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाले थे। एक बार केशीकुमार एक गांवसे दूसरे गावमे विचरते हुए श्रावस्ती नगरीमें पधारे और नगरके पास स्थित तिन्दुक नामक उद्यानमें विराजे।

उस समय सर्वलोकमें विख्यात रागद्वेषको जीतनेवाले भगवान् वर्द्धमान धर्मतीर्थके प्रवर्त्तक थे जिनके गौतम नामसे प्रसिद्ध विद्या तथा चारित्रके पारगामी शिष्य थे। श्रमण गौतम द्वादशांग-वाणीके जाननेवाले तथा महान् तत्त्वज्ञानी थे। वे भी अपनी शिष्य-मण्डलीके साथ श्रावस्ती पधारे तथा समीपवर्त्ती कोष्ठक नामक उद्यानमें विराजमान हुए।

दोनों ही श्रमण महान् यशस्वी, इन्द्रियोंको वशमे रखनेवाले और ज्ञानादि समाधियुक्त थे। दोनों ही नगरमे विचरण करने लगे। दोनों ही महात्माओंके संयत, गुणवान्, तपस्वी और और षट्कायके रक्षक शिष्य-वर्गके अन्तःकरणमे शंका उत्पन्न हुई और वे सोचने लगे कि "हमारा धर्म कैसा है, इनका धर्म कैसा है तथा आचार, धर्म प्रणिधि हमारी और इनकी कैसी है। महामुनि पार्श्वनाथने चतुर्यामरूप धर्मका और वर्द्धमान स्वामीने पाच शिक्षारूप धर्मका उपदेश किया है। अचेलक जो धर्म है और सचेलक जो धर्म है, एक कार्यको प्राप्त हुए इन दोनोंमें भेदका कारण क्या? अर्थात् जव फल दोनोंका एक है तो फिर इनमें भेद क्यों डाला?"

शिष्योंके इस प्रकारके शंकामूलक तर्कको जानकर केशीकुमार और गौतम मुनिने परस्पर मिलनेका विचार किया। तदनुसार

विनयधर्मके जाननेवाले गौतम मुनि ज्येष्ठ कुलको देखते हुए अपनी शिष्यमण्डलीके साथ स्वयं तिन्दुक वनमें, जहां केशीकुमार ठहरे हुए थे, गये। उन्हें आते देख, श्रमण केशीकुमारने बहुमान पुरस्सर उनका स्वागत किया। अनन्तर तृणके आसन पर दोनों ही श्रमण बैठे और :चन्द्र-सूर्यके समान सुशोभित हुए। उनका शास्त्रार्थ सुननेके लिए पाखण्डी, कुतूहली और हजारोंकी संख्यामें गृहस्थ भी एकत्र हो गए। देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर तथा अदृश्यभूत आदि सबका वनमें समागम हुआ शास्त्रार्थ निम्नलिखित प्रकारसे हुआ:—

केशीकुमार—हे महाभाग! मैं तुमसे पूछता हूं।

गौतम—हे भन्ते! आप यथा इच्छा पूछें।

केशीकुमार—वर्द्धमान स्वामीने पांच शिक्षारूप धर्मका कथन किया है और महामुनि पार्श्वनाथने चतुर्यामरूप धर्मका प्रतिपादन किया है। हे मेधाविन्! एक कार्यमें प्रवृत्त होनेवालोंके धर्ममें विशेष भेद होनेमें कारण क्या है? अथ च धर्मके दो भेद हो जाने पर आपको संशय क्यों नहीं होता?

गौतम—जीवादि तत्त्वोंका विनिश्चय जिसमें किया जाता है ऐसे धर्म-तत्वको प्रज्ञा ही सम्यक् देख सकती है। प्रथम तीर्थंकरके मुनि ऋृजुजड़ और चरम तीर्थंकरके मुनि वक्रजड़ हैं किन्तु मध्यम तीर्थंकरोंके मुनि ऋृजुप्राज्ञ होते हैं। इस कारणसे धर्मके दो भेद किये गये। प्रथम तीर्थंकरके मुनियोंका कल्प दुर्विशोध्य और चरम तीर्थंकरके मुनियोंका कल्प, दुरनुपालक किन्तु

मध्यवर्ती तीर्थंकरोंके मुनिका कल्प सुविशोध्य और सुपालक है।

केशीकुमार—साधु गौतम! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है, आपने मेरे सन्देहको दूर किया। मेरा एक और भी संशय है। हे गौतम! वर्द्धमान स्वामीने अचेलक धर्मका उपदेश दिया है और महामुनि पार्श्वनाथ स्वामीने सचेलक धर्मका प्रतिपादन किया है। हे गौतम! एक कार्यमें प्रवृत्त हुओंमें विशेषता क्या है? इसमें हेतु क्या है? हे मेधाविन्! लिंग—वेशके दो भेद हो जाने पर क्या आपके मनमें विप्रत्यय—संशय उत्पन्न नहीं होता?

गौतम—हे भगवन्! विज्ञानसे जानकर ही धर्म-साधनके उपकरण की आज्ञा प्रदान की गई है। लोकमें प्रत्ययके लिए वर्षादि कालमें संयमकी रक्षाके लिए तथा संयम यात्राके निर्वाहके लिए, ज्ञानादि ग्रहणके लिए, अथवा यह साधु है, ऐसी पहचान के लिए लोकमें लिंगका प्रयोजन है। हे भगवन्! वस्तुतः दोनों तीर्थंकरोंकी परीक्षा तो यही है कि निश्चयमें मोक्षके सद्भूत साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप ही हैं।

केशीकुमार—साधु गौतम! हे गौतम! तू अनेक सहस्र शत्रुओंके मध्यमें खड़ा है, वे शत्रु तेरे जीतनेको तेरे सम्मुख आ रहे हैं, तूने किस प्रकार उन शत्रुओंको जीता है?

गौतम—हे भगवन्! एकके जीतने पर पांच जीते गये, पांचके जीतने पर दश जीते गये, तथा दश प्रकारके शत्रुओंको जीत कर मैंने सभी शत्रुओंको जीत लिया है।

केशीकुमार—हे गौतम ! वे शत्रु कौन कहे गये हैं ?

गौतम—हे महामुने ! वशीभूत न किया हुआ एक आत्मा शत्रुरूप है एवं कषाय और इन्द्रियां भी शत्रुरूप है। उनको न्यायपूर्वक जीतकर मैं विचरता हूं।

केशीकुमार—साधु गौतम ! ... मेरा एक और सन्देह है। हे मुने ! लोकमें बहुतसे जीव पाशसे बन्धे हुए देखे जाते हैं। परन्तु तुम पाशसे मुक्त और लघुभूत होकर कैसे विचरते हो ?

गौतम—हे मुने ! मैं उन पाशोंका सर्वप्रकारसे छेदनकर तथा उपाय से विनष्ट कर मुक्तपाश और लघुभूत होकर विचरता हूं।

केशीकुमार—वे पाश कौनसे कहे हैं ?

गौतम—हे भगवन् ! रागद्वेषादि और तीव्र स्नेहरूप पाश बड़े भयंकर हैं, इनका यथान्याय छेदन करके मैं यथाक्रम विचरता हूं।

केशीकुमार—साधु गौतम ! हृदयके भीतर उत्पन्न हुई लता उसी स्थान पर ठहरती है, जिसका फल विषके समान (परिणाममें दारुण) है। आपने उस लताको किस प्रकारसे उत्पाटित किया ?

गौतम—हे भन्ते ! मैंने उस लताको सर्व प्रकारसे छेदन तथा खंड-खंड करके मूल सहित उखाड़कर फेंक दिया है। अतः मैं न्यायपूर्वक विचरता हूं और विषभक्षण अर्थात् विषरूप फलों के भक्षणसे मुक्त हो गया हूं।

केशीकुमार—हे गौतम ! लता कौनसी कही गई है ?

गौतम—हे महामुने ! संसारमें तृष्णारूप लता है जो कि बड़ी

भयंकर और भयंकर फलोंको देनेवाली है। उसको न्यायपूर्वक उच्छेदन करके मैं विचरता हूं।

केशीकुमार—साधु! साधु!! हे गौतम! शरीरमें जो अग्निया ठहरी हुई है जो कि संप्रज्वलित हो रही है अतएव घोर व प्रचंड तथा शरीरको भस्म करनेवाली है, उनको आपने कैसे शान्त किया? अर्थात् वे आपने कैसे बुझाई

गौतम—हे भन्ते! महामेघके प्रसूतसे उत्तम और पवित्र जलका ग्रहण करके मैं उन अग्नियोंको निरन्तर सींचता रहता हूं। अतः सिंचनकी गई वे अग्निया मुझे नहीं जलातीं।

केशीकुमार—हे गौतम! अग्निया कौन-सी कही गई हैं? (उपलक्षण रूपसे—महामेघ कौन-सा है और पवित्र जल किसका नाम है?)

गौतम—हे मुने! (क्रोध, मान, माया और लोभरूप) चार कषाय अग्निया है। श्रुत, शील और तपरूप जल कहा जाता है तथा श्रुतरूप जलधारासे ताडित किये जाने पर भेदन की हुई अग्निया मुझे नहीं जलातीं।

केशीकुमार—साधु गौतम! मेरे संशय दूर हुए। हे गौतम! यह साहसिक और भीम दुष्ट घोड़ा चारों ओर भाग रहा है। उस पर चढ़े हुए आप उसके द्वारा कैसे उन्मार्गमें नहीं ले जाये गये? अर्थात् वह दुष्ट घोड़ा आपको दुष्ट मार्गमें क्यों नहीं ले गया?

गौतम—हे मुने! भागते हुए दुष्ट अश्वको पकड़ कर मैं श्रुतरूप

रस्सीसे बांधकर रखता हूं। इसलिए मेरा अश्व उन्मार्गमें नहीं जाता किन्तु सन्मार्गको ग्रहण करता है।

केशीकुमार—हे गौतम! आप अश्व किसको कहते हैं?

गौतम—हे मुने! यह मन ही साहसी और रौद्र दुष्टाश्व है। जोकि चारों ओर भागता है। मैं उसको कंथक—जातिमान् अश्वकी तरह धर्म शिक्षाके द्वारा निग्रह करता हूं।

केशीकुमार—साधु गौतम! मेरे सन्देह दूर हुए। हे गौतम! लोकमें ऐसे बहुत-से कुमार्ग हैं, जिन पर चलनेसे जीव सन्मार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं परन्तु आप सन्मार्गमें चलते हुए उससे भ्रष्ट क्यों नहीं होते?

गौतम—हे मुने! जो सन्मार्गसे जाते हैं तथा जो उन्मार्गमें प्रस्थान कर रहे हैं, उन सबको मैं जानता हूं। अतः मैं सन्मार्गसे च्युत नहीं होता।

केशीकुमार—हे गौतम! वह सुमार्ग और कुमार्ग कौन-सा?

गौतम—कुदर्शनवादी सभी पाखण्डी लोग उन्मार्गमें प्रस्थित हैं। सन्मार्ग तो जिनभाषित है और यही उत्तम मार्ग है।

केशीकुमार—साधु गौतम! हे मुने! महान् उदकके वेगमें बहते हुए प्राणियोंकी शरणागति और प्रतिष्ठारूप द्वीप आप किसको मानते हैं?

गौतम—समुद्रके मध्य में एक महाद्वीप है। वह बड़े विस्तारवाला है। जलके महान वेगकी वहां पर गति नहीं है।

केशीकुमार—हे गौतम! वह महाद्वीप कौन-सा कहा गया है?

गौतम—जरा मरणके वेगसे डूबते हुए प्राणियोंके लिए धर्मद्वीप प्रतिष्ठानरूप है और उसमें जाना उत्तम शरणरूप है।

केशीकुमार—साधु गौतम! हे गौतम! महाप्रवाहवाले समुद्रमें एक नौका विपरीत रूपसे चारों ओर भाग रही है; जिसमें कि आप आरूढ़ हो रहे हैं तो फिर आप कैसे पार जा सकेंगे?

गौतम—जो नौका छिद्रोंवाली होती है, वह पार ले जानेवाली नहीं होती किन्तु जो नौका छिद्रोंसे रहित है, वह अवश्य पार ले जानेवाली होती है।

केशीकुमार—वह नौका कौन-सी है?

गौतम—तीर्थंकर देवने इस शरीरको नौकाके समान कहा है और जीव नाविक है तथा यह संसार ही समुद्र है, जिसको महर्षि लोग तैर जाते हैं।

केशीकुमार—साधु गौतम! हे गौतम! बहुत-से प्राणी घोर अन्धकारमें स्थित हैं। सो इन सब प्राणियोंको लोकमें कौन उद्योत करता है?

गौतम—हे भगवन्! सर्वलोकमें प्रकाश करनेवाला उदय हुआ निर्मल सूर्य इस लोकमें सर्व प्राणियोंको प्रकाश करेगा।

केशीकुमार—हे गौतम! भानु किसको कहा गया है?

गौतम—क्षीण हो गया है संसार जिनका ऐसे सर्वज्ञ जिनेन्द्ररूप भास्करका उदय हुआ है। वही सर्वलोकमें प्राणियोंका उद्योत करेगा।

केशीकुमार—साधु गौतम! हे मुने! शारीरिक और मानसिक

दुखोंसे पीड़ित प्राणियोंके लिए क्षेम और शिवरूप तथा बाधाओं से रहित आप कौन-सा स्थान मानते हैं ?

गौतम—लोकके अग्रभावमें एक ध्रुव—निश्चित स्थान है, जहा पर जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदनाएं नहीं हैं परन्तु उस पर आरोहण करना नितान्त कठिन हैं।

केशीकुमार—वह स्थान कौन-सा कहा गया है ?

गौतम—हे मुने । जिस स्थानको महर्षि लोग प्राप्त करते हैं, वह स्थान निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध इन नामोंसे विख्यात है। तात्पर्य यह है कि जिस स्थानका मैने ऊपर उल्लेख किया है, उसके ये नाम हैं। हे मुने ! वह स्थान शाश्वत वासरूप है, लोकके अग्रभावमें स्थित है परन्तु दुरारोह है तथा जिसको प्राप्त करके भव-परम्पराका अन्त करनेवाले मुनिजन सोच नहीं करते।

केशीकुमार—हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा साधु है। आपने मेरे संशयको छेदन कर दिया है। अतः हे संशयातीत ! हे सर्व सूत्रके पारगमी ! आपको नमस्कार।

इस प्रकार संशयोंके दूर हो जाने पर घोर पराक्रमवाले केशी-कुमारने महायशस्वी गौतम स्वामीको सिरसे वन्दना करके उस तिन्दुक वनमें पांच महाव्रत धर्मको भावसे ग्रहण किया, क्योंकि प्रथम और चरम तीर्थंकरके मार्गमें पंच यमरूप धर्मका पालन करना बतलाया गया है, जो कि सुख देनेवाला है।

उस वनमें केशीकुमार मुनि और गौतम स्वामीका जो नित्य-

निरन्तर समागम हुआ ; उसमें श्रुत, शील, ज्ञान और चारित्रके सम्यक् उत्कर्षयुक्त मुक्तिके साधक शिक्षा-व्रत आदि नियमोंका विशिष्ट निर्णय हुआ। सर्व परिषद् उक्त संवादको सुनकर सन्मार्ग में प्रवृत्त हुई तथा भगवान् केशीकुमार और गौतम स्वामीकी स्तुति की।

उपर्युक्त शास्त्रार्थसे भगवान् महावीर और पार्श्वनाथके सिद्धान्तोंका बहुत कुछ आभास मिलता है।

(जैन-भारती से उद्धृत)

अभ्यास

१—गौतम मुनि संशय न होने पर भी केशी स्वामीके पास क्यों गये ?

२—केशी स्वामी ने कितने प्रश्न पूछे ?

३—तीसरा प्रश्न क्या था ? उसके प्रत्युत्तरका भाव समझाओ।

४—संवादके बाद क्या हुआ ?

४

षड् जीवकाय

संसारी जीवोंके छः समूह हैं। ये तरह तरहके पुद्गलोंसे बने हुए शरीरोंके आधार पर किये गये हैं। काय शब्दका अर्थ शरीर है। जिनका शरीर पृथ्वी, मिट्टी आदि हैं; वे जीव पृथ्वीकाय कहलाते हैं। पानी-शरीरवाले अप्काय, अग्नि-शरीरवाले तेजस्काय, वायु-शरीरवाले वायुकाय, वनस्पति-शरीरवाले वनस्पतिकाय और हिलने-चलने योग्य शरीरवाले त्रसकाय कहलाते हैं।

इनमें पहले पाँच काय स्थावर हैं। जिनका सुख-दुःख साक्षात् न देखा जा सके, जो चलते फिरते न हों, वे जीव स्थावर कहलाते हैं। जो जीव सुख-दुःख प्रकट करते हैं एवं जिनमें सुखकी प्रवृत्ति व दुःखकी निवृत्तिके लिए चलने फिरनेकी शक्ति होती है, वे जीव त्रस कहलाते हैं। सन्मुख आना, फिरकर जाना, शरीरका संकोच करना, शरीरको फैलाना, शब्द करना, भयसे इधर-उधर घूमना, भाग जाना, आने-जानेका ज्ञान होना ये सब त्रस जीवोंके लक्षण हैं। अग्नि और वायु ये दोनों चलते हैं। पर सुख-दुःखकी प्रवृत्ति एवं

निवृत्तिके लिये नहीं चलते, इसलिये ये वास्तविक त्रस नही कहे जाते।

वनस्पतिकायमें अनन्त जीव होते हैं। शेष पांच कायोंमें असंख्य जीव होते हैं। पृथ्वी, मिट्टी, पानी आदि जो हमें दीखते है, वे पृथ्वीकायिक, अप्कायिक आदि जीवोंके शरीर हैं। जब तक इन्हें कोई विरोधी संयोग या स्पर्श नहीं मिलता, तब तक ये सजीव शरीर होते है और विरोधी संयोगसे इनके जीवोंका च्यवन हो जाता है और ये निर्जीव शरीर रह जाते हैं।

दो इन्द्रियसे लेकर पांच इन्द्रिय तकके जीव त्रस-कायिक होते हैं और शेष पांच कायके जीव एक इन्द्रियवाले होते हैं।

अभ्यास

१—स्थावर जीवकी क्या परिभाषा है ?

२—अग्नि और वायु चलते हुए भी त्रस क्यों नहीं ?

३—असंख्य और अनन्तमें क्या अन्तर है ?

५

जीवके १४ भेद

पौद्गलिक शक्तियोंके विना संसारी जीवोंका निर्वाह नहीं हो सकता। जीवन-निर्वाहमें सहायता करनेवाली छः पौद्गलिक शक्तियाँ हैं, जिन्हें पर्याप्ति कहते हैं। वे शक्तियाँ प्रत्येक जीवको उत्पन्न होनेके बाद ४८ मिनटके भीतर भीतर प्राप्त हो जाती हैं। उनके प्राप्त होनेके बाद वे जीव पर्याप्त और उनके प्राप्त होनेके पहले अपर्याप्त कहलाते हैं। पाँच जातियोंसे पर्याप्त एवं अपर्याप्तका सम्बन्ध जोड़नेसे जीव चौदह* प्रकारके हो जाते हैं।

एकेन्द्रिय जीव दो प्रकारके होते हैं—सूक्ष्म और बादर। एकेन्द्रियके सिवाय और कोई जीव सूक्ष्म नहीं होते। सूक्ष्मसे हमारा अर्थ उन जीवोंसे है, जो समूचे लोकमें फैले हुए हैं और वे इतने सूक्ष्म हैं कि जिन पर किसी तरहका स्थूल प्रहार कुछ भी कारगर नहीं होता। वे न तो स्थूल उपायोंसे जिलाये जा सकते हैं और

* एकेन्द्रियके सूक्ष्म और बादर तथा पञ्चेन्द्रियके समनस्क और अमनस्क, ये भेद होते हैं, इसलिए इनके चौदह भेद हैं।

न मारे जा सकते हैं। अतएव उनके द्वारा कोई भी मनुष्य कायिक हिंसक नहीं बनता।

बादर एकेन्द्रियके भी एक जीवका एक शरीर हमारी दृष्टिका विषय नहीं होता। हम जो देखते हैं, वह उन असंख्य जीवोंके असंख्य शरीरोंका एक पिण्ड होता है। परन्तु समुदित अवस्थामें देखे जाते हैं इसलिए वे बादर ही हैं। एकेन्द्रियके सिवाय चार भेद और किसी जातिके होते हैं तो पञ्चेन्द्रियके होते हैं। ज्यों एकेन्द्रिय जीवोंकी सूक्ष्म और बादर ये दो श्रेणियाँ हैं, त्यों पञ्चेन्द्रिय जीव संज्ञी—समनस्क और असंज्ञी—अमनस्क इन दो भागोंमें विभाजित हैं।

चतुरिन्द्रिय तकके जीवोंके मन नहीं होता। इसलिए मनके आधार पर उनके विभाग नहीं किये जाते। पञ्चेन्द्रिय जीव जो गर्भसे जन्मते हैं, उन्हींके मन होता है और जो गर्भके बिना ही संमूर्च्छन-जन्मसे उत्पन्न होते हैं, उनके मन नहीं होता। उनके चवदह भेद निम्न प्रकार हैं:—

सूक्ष्म	एकेन्द्रियके	दो	भेद—	पर्याप्त और	अपर्याप्त
बादर	"	"	"	"	"
द्वीन्द्रियके		"	"	"	"
त्रीन्द्रियके		"	"	"	"
चतुरिन्द्रियके		"	"	"	"
असंज्ञी पञ्चेन्द्रियके		"	"	"	"
संज्ञी	"	"	"	"	"

अभ्यास

१—जीवके १४ भेद कौनसे हैं ?

२—पर्याप्ति-प्राप्तिका उत्कृष्ट काल-मान कितना है ?

३—सूक्ष्म जीवों पर किया गया प्रहार कारगर क्यों नहीं होता ?

६

जीव सब समान हैं

हम जगह जगह यह वतलाते आये हैं कि जीव पाँच तरहके हैं, छः तरहके है, चार तरहके हैं आदि। यह सब भेद जीवोंके इन्द्रिय, शरीर आदि की अपेक्षासे किये गये हैं। उनका मूल स्वरूप एक समान है। कोई भी जीव परिमाणमें न तो छोटा होता है और न वड़ा। सव जीवोंके ज्ञानमय असंख्य प्रदेश होते हैं। उन प्रदेशोंका स्वभाव सिकुड़ने और विकसनेका होता है। जिस प्रकार दीपकका प्रकाश खुले आकाशमें ज्यादा फैलता है और एक ढक्कनमें रक्खा जाय तो उसके अन्दर समा जाता है; वैसे ही आत्मा जो ज्ञानमय पिण्ड है, वह एक वड़े शरीरमें भी व्याप्त होता है और छोटे से छोटे शरीरमें भी समा जाता है। वड़ा-छोटा शरीर होना अपने अपने कर्मोंके अनुसार है। इसीलिये बड़े जीवोंको मारनेसे अधिक दोष और छोटे जीवों को मारने से कम दोष है, ऐसा कहना निश्चय-दृष्टिके अनुसार अनुचित है।

हिंसा वड़ी और छोटी अपने अपने विचारोंके अनुसार होती

है, जीवोंके अनुसार नहीं। परिणाम जितने अधिक मलिन होते हैं, हिंसा भी उतनी ही अधिक होती है। बड़े जीवोंके लिए छोटे जीवोंको मारडालनेमें कोई भी आपत्ति नहीं अथवा बड़े जीवों के लिए छोटे जीवोंको मारडालनेमें दोष थोड़ा है और लाभ अधिक है, ऐसे २ सिद्धान्त अहिंसाके सनातन सिद्धान्तके नितान्त प्रतिकूल हैं। भगवान् महावीर ने कहा है:—

❀ जे केइ खुद्दगा पाणा,
अहवा संति महालया।
सरिसं तेहिं वेरन्ति,
असरिसंति य नो वए॥

अर्थात्‌एकेन्द्रिय आदि क्षुद्र—छोटे शरीरवाले प्राणी हों अथवा पञ्चेन्द्रिय आदि बड़े—स्थूल शरीरवाले प्राणी हों, उनको मारनेमें हिंसा सदृश होती है या असदृश, ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्यों कि हिंसा का दोष 'वधक की भावना तीव्र है या मन्द' आदि विविध प्रवृत्तियों पर निर्भर है।

हम जब कुछ गहराईमें उतरते हैं तब हमें यह ठीक ठीक पता चल जाता है कि ऐसे सिद्धान्त दुनियांमें कैसे चले? एक पुरानी उक्ति है—"जीवो जीवस्य जीवनम्"—जीव जीवका जीवन है। 'मच्छ-गलागल' से भी यही मतलब निकलता है। जैसे एक बड़ी मछली छोटी मछलियोंको खा जाती है, वैसे बड़े जीव छोटे जीवों

❀सूत्रकृताङ्ग—२-५-६

का भख लेते रहते हैं। मनुष्यको खाना पड़ता है, पीना पड़ता है। इसमें शाक-सब्जी, धान-पानी, अग्नि, हवाके जीवोंका वध होता रहता है। द्वीन्द्रिय आदि बड़े जीवों की भी हिंसा हो-जाती है। यह उनकी आवश्यकता है—मजबूरी है, ऐसा किये विना जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता।

मनुष्योंमें एक कमजोरी छिपी हुई होती है। वह हर जगह सचाईकी ओर बढ़नेमें रुकावट डालती है। इसीलिए उन्होंने यह एक सिद्धान्त स्थापित कर लिया कि जो वस्तुएँ उनके जीवन-निर्वाह के लिये नितान्त आवश्यक है, उनमें हिसा कैसे? आज यह सिद्धान्त इतना व्यापक है कि साधारण जन की रग-रग में यही वात रम रही है कि आवश्यकता की पूर्ति करने में कोई भी हिंसा नहीं। पर असलियत कुछ ओर है।

यद्यपि हिंसा दो श्रेणियो में विभक्त की जा सकती है, जैसे—अर्थ-हिसा और अनर्थ-हिसा। जो आवश्यकता से की जाय, वह अर्थ हिंसा है और जो आवश्यकताके विना ही की जाय, वह अनर्थ-हिसा है। अर्थ-हिंसाको गृहस्थी छोड़ नहीं सकता, वह दूसरी वात है; किन्तु वस्तुतः वह हिंसा ही है। मनुष्योंकी आवश्यकताएँ पूरी करने में जो हिंसा होती है, उसमें अहिंसा या धर्म कुछ भी नहीं, वह केवल स्वार्थ-हिसा है। हिसामें धर्म नहीं होता, वह चाहे अपने लिये की जाय, चाहे और किसी दूसरे के लिये। अतएव वड़ों के लिये छोटों का गला घोंटनेवाला सिद्धान्त अहिसा की दृष्टिसे कतई गलत है।

अभ्यास

१—क्या एक चींटी को और एक हाथी को मारना बराबर है?

२—क्या छोटे प्राणीको मारकर बड़े प्राणीको बचाना धर्म है?

३—क्या अर्थ-हिंसामें भी पाप है? यदि है तो क्यों?

४—जीवत्वके समान होते हुए भी एक प्राणी छोटा और एक बड़ा क्यों?

७

जयाचार्य

जयाचार्य (श्री जीतमलजी महाराज) तेरापन्थ संस्थाके प्राण थे। आपका जन्म वि० १८६० की आश्विन शुक्ला १४ को हुआ था। आपकी जन्म भूमि मारवाड़में 'रोयट' नामक छोटासा गांव था। आप ६ वर्षकी अवस्थामें आचार्यश्री भारमलजीके शासनकालमें दीक्षित हुए। आपका दीक्षा-संस्कार वि० सं० १८६६ की माघ कृष्णा ७ को युवाचार्य श्री रायचन्दजी स्वामीके हाथोंसे जयपुर में हुआ। १८९३ में आप युवाचार्य बने। १९०८ में आपका पट्टारोहण हुआ। १९३८ की भाद्र शुक्ला १२ को जयपुरमें आप अनशनपूर्वक स्वर्ग सिधारे।

तेरापन्थमें प्रायः निर्वाण-जयन्ती मनानेकी प्रणाली है। उसमें एक तथ्य है। जन्म-तिथिका भविष्य अज्ञात रहता है। स्वर्ग-तिथि अतीत हो जाती है। जीवनका चित्रपट संदिग्ध नही रहता।

जयन्ती उन्हीं व्यक्तियों की मनाई जाती है, जिनका जीवन महान् रहा हो और जिनके जीवनसे जनता कुछ सीख सके।

जयाचार्यका जीवन बड़ा पावन और उज्ज्वल था। आप ९ वर्ष की अवस्थामें दीक्षित बने थे। यह जैन-शास्त्रोंका नियम ठहरा—९ वर्षसे कम अवस्था वालेको दीक्षा दी नहीं जा सकती ; अन्यथा उनकी योग्यता तो ऐसी थी कि वे ५ वर्षमें ही दीक्षित बन जाएं। कई लोग बाल-दीक्षा का विरोध करते हैं, किन्तु उन्हें समझना चाहिए कि सभी बालक अयोग्य नहीं होते। जिनके पूर्व-जन्म-गत संस्कार प्रबल होते हैं, वह वर्तमान जीवनमें बालक होकर भी आस्तिकोंकी दृष्टिमें बालक नहीं होते।

जयाचार्यकी प्रतिभा जीवनके प्रारम्भमें ही निखर उठी थी। आपको दीक्षा देनेके लिए श्री भारमलजी स्वामी स्वयं नहीं पधारे। उसके लिये श्री रायचन्दजी स्वामीको भेजा। आपसे पधारने की प्रार्थना की, तब आपने कहा—मुझे जरूरत नहीं, रायचन्दको आवश्यकता है, वही जाय। ९ वर्षके बालक पर इतनी आगेकी कल्पना करना कठिन काम है फिर भी उनकी आत्मशुद्धि एवं हृदय सरलताका निर्णय भला कैसे टलता ? "होनहार बिरवानके होत चीकने पात"—यह सही वस्तु है।

जयाचार्य दीक्षित होते ही प्रतिभावान व्यक्तिके रूपमें संघ के सन्मुख आये। आचार्य श्री भारमलजीने आचार्य-निर्वाचनका पत्र लिखा—उसमें "खेतसी तथा रायचन्द" ये दोनों नाम लिखे। साधुओंके दिलमें इसकी बड़ी चिन्ता हुई। यद्यपि चतुर्विध संघ को अपनी मनोभावना गुरुके सन्मुख रखनेकी पूरी स्वतन्त्रता है, फिर भी बड़े बड़े साधुओं का साहस नहीं हुआ। इस विषय में

गुरु-चरणोंमें कुछ भी निवेदन न कर सके। जयाचार्यने सबका नेतृत्व किया। आचार्य श्रीके पास गये। गुरुदेवने पूछा—क्यों ? क्या बात है। उत्तरमें बोले—गुरुदेव ! आपने निर्वाचन-पत्रमें दो नाम लिखे हैं। उसमें हम परिवर्तन चाहते हैं—एक नाम चाहते है। आचार्यवरने कहा—इसमें क्या आपत्ति है, ये मामे भानजे है, आपसमें निपटलेंगे। बाल-मुनिने कहा—गुरुदेव ! यह ठीक है पर सदा के लिये मार्ग प्रशस्त चाहते हैं। आचार्य-वरने बालमुनिकी बात पर गौरकर खेतसीजी स्वामी का नाम हटा दिया। खेतसीजी स्वामीने कहा—महाराज ! मैं कुछ भी योग्य नहीं था, आपने मेरा नाम लिखा, वह कृपाकी और उसे हटा दिया, बहुत बड़ी कृपा की। देखिए उनकी विरक्ति, निरहं-कारता और गुरुभक्ति !

शिक्षा

शिक्षा पाए बिना जीवन का मूल्य नहीं होता। शिक्षासे ही मनुष्यमें मनुष्यता आती है। जीवन-पथ प्रकाशमान होता है। जयाचार्यके शिक्षा-गुरु श्री हेमराजजी स्वामी बने। वे कोई उपाधि-प्राप्त पंडित नहीं थे। फिर भी उनका ज्ञान अगाध था। ज्ञान आत्मा का गुण है। उपाधियाँ बाहरी वस्तु हैं। उनसे उनका सम्बन्ध नहीं होता। बहुतसे ऐसे शिक्षाहीन उपाधिधारी मिलते-है, जो उपाधिको स्थान-स्थान पर लजाते है। गहने और सुन्दर कपड़े भद्दे शरीरकी शोभा नही बढ़ाते। "मर्कटस्य गले बद्धा, रत्नानामिव मालिका" बन्दरके गलेमें बँधी हुई रत्नमालाकी तरह

विद्याहीनकी उपाधि अनर्थकर होती है। श्री हेमराजजी स्वामीके पास जयाचार्यने गम्भीर अध्ययन किया। जयाचार्य उनको क्या समझते थे, वह उनके शब्दोंसे ही पता चलता है—

"मुनिवर रे मैं तो बिन्दु सारिखोरे, कीधो सिन्धु समान"

संस्कारी कवि

आप संस्कारी कवि थे। काव्य-प्रतिभा आपकी जन्मजात सहचरी थी। प्रतिभाको विरला ही व्यक्ति पा सकता है। एक कविने कहा है—

नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्रापि दुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥

आप ११ वर्षकी अवस्थामें भी कविता करने लग गये थे। १६ वर्षकी अवस्थमें तो आपने जैनागम-प्रज्ञापनाका संक्षिप्त पद्यानुवाद किया था। प्रज्ञपनासूत्र कितना कठिन है, वह जैन शास्त्रों के पाठक जानते हैं। आपने भगवतीसूत्र जो वर्तमान आगमोंमें सबसे बड़ा आगम है, की पद्यमय टीका की। उसकी ८० हजार गाथाएँ हैं।" उनकी समस्त रचनाओंका परिमाण ३॥ लाख गाथाएँ हैं। राजस्थानी साहित्यकारोंमें आपका प्रमुख स्थान है।

स्वाध्याय-प्रेम

आपने अपने जीवनका बहुतसा भाग स्वाध्यायमें बिताया। अन्तिम वर्षोंमें तो आप एक दिनमें पाँच-पाँच हजार गाथाओंका स्वाध्याय किया करते थे। योगाभ्यास और एकान्त-चिन्तन

आपके जीवनकी प्रमुख प्रवृत्तियां थीं। मुनि श्री मघराजजीको उत्तरदायित्व देनेके बाद आप प्रायः रचनामें ही संलग्न रहते थे। कोई व्यक्ति आपकी सेवा करने जाता, तब आप कहते—मघजीके दर्शन किये या नहीं ? उनकी सेवा करो। इस प्रकार आप अपना जीवन स्वाध्यायपूर्ण विताते।

इतिहासक

जयाचार्यने अपने पूर्ववर्ती आचार्योंकी जीवन-घटनाओं एवं उनके शासन-कालके इतिहासका संकलन कर तेरापन्थकी नींवको सुदृढ़ किया था। जिसका इतिहास सुरक्षित नहीं रहता, वह संस्था पनप नहीं सकती। इसलिए आपने बिखरी हुई सामग्रीको एकत्र कर संस्थाकी गतिविधिको चिरकालके लिए अमर बना दिया।

विविध-रचना

आचार्य भिक्षुके सिद्धान्तोंका संकलन आपकी दूरदर्शिता और साहित्य-रुचिका अनन्य प्रमाण है। आप बड़े कुशल जीवन-चरित्र-लेखक थे। जीवनकी गहरी समस्याओंको सीधे-सादे शब्दोंमें रखना आपकी सहज विशेषता थी। आपने अपने जीवन कालमें बीसों जीवन-चरित्र लिखे।

एकाग्रता

आपकी चित्तवृत्ति बड़ी एकाग्र थी। कार्य-संलग्न होनेके पश्चात् आसपासका वातावरण आपके लिए बाधक नहीं बनता। ऐसा भी प्रसङ्ग आया कि आप जहां ठहरे थे, उसके सामने नाटक

हुआ। आप वहां बैठे लिखते रहे। किन्तु एक क्षणके लिए भी आपने नाटक पर दृष्टि नहीं डाली। यह साधनाके प्रारम्भकी—बालक-अवस्थाकी बात है।

व्यवस्थापक

आप तेरापन्थके भाग्य-विधाता थे। संस्थाको समृद्ध और सङ्गठित रखनेके लिए आपने अनेक मर्यादाएँ बाँधी। आपने तेरापन्थ-शासन-विधानकी जो व्यवस्था की, वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थका विषय है। आपकी बहुमुखी प्रतिभा और विशाल जीवन हमारे लिए प्रकाश-स्तम्भका कार्य करेंगे।

अभ्यास

१ जयाचार्यकी जीवनके महत्त्वपूर्ण घटनाओंकी तिथियाँ बताओ।

२ इस पाठमें उनके जीवनको किन किन दृष्टिकोणोंसे देखा गया है?

३ वे एक साहित्यिक व ऐतिहासिक पुरुष क्यों थे?

४ बाल्यकालमें भी वे एक प्रखर प्रतिभाशील व्यक्ति थे, इसका क्या प्रमाण है?

८

दो राशि

जव हम संसार भरकी वस्तुओंको पृथक्-पृथक् करने लगते हैं, तव उनको कई हजारों श्रेणियोंमें पहुंचा देते हैं, जैसे—मनुष्य, गाय, भैंस, ऊँट, मकान, कोट, वर्तन आदि आदि और जव वापिस मुड़ते है—एकीकरणकी ओर दृष्टि डालते हैं, तव हमें मूल रूपमें दो ही पदार्थ-राशियां मिलती है—एक चेतन—ज्ञानवान् आत्माओंकी राशि और दूसरी अचेतन—ज्ञानरहित जड पदार्थो को राशि। हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि जगत्में इन दो राशियोंके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अथवा यों कहा जा सकता है कि जगत्का अस्तित्व इन दोनोंके अस्तित्व पर ही निर्भर है। पड् द्रव्य और नव तत्त्व इनसे पृथक् नहीं हैं।

जव हम विश्वकी स्थितिको समझनेके लिए आगे वढ़ते हैं, तव इनकी संख्या दो से छःकी हो जाती है। यह लोक *जीवाऽजीवात्मक है, इसको विस्तृत किया जाता है अर्थात् अजीव तत्त्व पाँच

* जीवा चेव अजीवाय एस लोए वियाहिए (उत्तराध्यन)

भागोंमें विभक्त कर दिया जाता है।

आत्माकी मुक्ति कैसे हो सकती है ? जीव या अजीवकी कौन-कौन सी दशाएँ मुक्तिकी बाधक एवं साधक हैं ? यह जिज्ञासा इनको दो से नौ में ले जाती है। वहाँ अजीवके चार (अजीव, पुण्य, पाप, बन्ध) और जीवके पाँच (जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष) विभाग हो जाते हैं। परन्तु वास्तवमें तत्त्व दो ही हैं। ये छः और नौ तो एक विशेष उपयोगिता या समझनेकी सुविधाके लिए किये गये हैं। हम इन दोनों विभिन्न वर्गोंको जाने बिना यह कभी नहीं जान सकते कि विश्वके कार्य-सञ्चालनमें जीव और अजीवका क्या क्या उपयोग है ?

धर्मास्तिकाय विश्वकी गतिशीलता—सक्रियताका सहायक है। दुनियांमें जो कुछ हलन-चलन, कम्पन, सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन तक होता है, वह सब उसीकी सहायतासे होता है। अधर्मास्तिकाय ठीक इसीका प्रतिपक्षी है। स्थिति—स्थिरतामें उसका उपकार है। दूसरे शब्दोंमें हम इनमेंसे एकको सक्रियताका सहायक एवं दूसरेको निष्क्रियताका सहायक कह सकते हैं।

यद्यपि सक्रियता एवं निष्क्रियता वस्तुओंकी निजी शक्तिका परिणाम है, तो भी इनके सहयोगके बिना वे हो नहीं सकतीं। आकाश आश्रय देनेके कारण उपकारी है। यह चराचर जगत् इसीके आधार पर टिका हुआ है। काल—समयसे संसारका सारा कार्य-क्रम विधिवत् सञ्चालित होता है। यह उसका स्पष्ट उपकार है। पुद्गलके बिना देहधारी प्राणी अपना निर्वाह ही

नहीं कर सकते ? श्वास-निःश्वाससे लेकर खाने-पीने, पहनने आदि सब कार्योंमें पौद्गलिक वस्तुएँ ही काममें आती हैं। शरीर स्वयं पौद्गलिक है। मन, वचनकी प्रवृत्ति भी पुद्गलोंकी सहायतासे होती है। आत्माएँ इनका उपयोग करनेवाली है, चेतनाशील हैं। इन छओं द्रव्योंके उपकारोंको—कार्योंको एकत्र करनेसे समूचे विश्वका संस्थान हमारी आँखोंके सामने आ जाता है।

लोक-स्थितिकी जानकारीमे अजीव-अन्तर्गत पदार्थोंका जितना सम्बन्ध है. उतना जीवकी विभिन्न दशाओंका नहीं। उनकी जानकरी तो आत्मसाधकके लिए—मुमुक्षुके लिए आवश्यक है। जीव और अजीव ये दो तो मूल है। पुण्य, पाप और बन्ध के द्वारा आत्मा बंधती है, भौतिक सुख एवं दु ख मिलता है अतएव ये तीनों मुक्तिके बाधक है। आस्रव कर्म ग्रहण करनेवाली आत्माकी अवस्था है इसलिए वह भी बाधक है। सम्वरसे आगामी कर्मोंका निरोध होता है, निर्जरासे पहले बँधे हुए कर्म टूटते हैं—आत्मा उज्ज्वल होती है इसलिए ये दोनों मोक्षके साधक हैं। मोक्ष आत्माकी कर्म-मल-रहित विशुद्ध-अवस्था है।

इनको हम मौलिक दृष्टिसे देखे तो पुण्य, पाप एवं बन्ध—ये अजीवकी अवस्थाएँ है और आस्रव, सम्वर, निर्जरा एवं मोक्ष—ये जीवकी अवस्थाएँ है। छः द्रव्योंसे इनमें यह विशेषता है कि उनमें जीवका कोई भी विभाग नहीं और इनमें जीवकी चार और अतिरिक्त अवस्थाएँ भी बतलाई गई हैं। उनमें अजीवके अन्तर्गत पाँच स्वतन्त्र द्रव्योंका निर्देशन है और इनमें अजीव (पुद्गल)

की तीन और अतिरिक्त अवस्थाएँ भी दिखाई गई हैं। फलतः छः द्रव्योंमें एक द्रव्य जीव और पाँच द्रव्य अजीव, नव तत्त्वोंमें पाँच तत्त्व जीव और चार तत्त्व अजीव हैं। इससे यही सिद्ध होता है—विश्वमें मूल तत्त्व-राशि दो ही हैं—एक जीव-राशि और दूसरी अजीव-राशि। जीव राशिमें सब जीव और अजीव-राशि में सब अजीव समाजाते हैं या यों कहना चाहिए कि इनमें समूचा लोक समा जाता है।

अभ्यास

१ पुद्गल हमारे लिए क्यों अपेक्षित हैं ?

२ चलनेकी स्वयं समर्थता होने पर भी धर्मास्तिकायका सहयोग क्यों आवश्यक है ?

३ नव तत्त्वोंमें जीव कितने व अजीव कितने और कैसे ?

१

धर्म

प्रत्येक कार्यकी सिद्धिके लिए साधनकी आवश्यकता हुआ करती है। क्योंकि साधनके विना हम जिसे सिद्ध करना चाहें, वह सिद्ध हो नहीं सकता। आत्म-शुद्धि हमारा साध्य है अर्थात् हम आत्माकी पूर्ण विकसित अवस्था देखना चाहते है, या यों कहें कि आत्म-विकासके वाधक कर्म-वन्धनोंसे मुक्त होना चाहते हैं और सीधे शब्दोंमें मोक्ष चाहते हैं। उसका—पूर्ण आत्म-विकास या मोक्षका जो साधन है, वह धर्म है। जैसे—"मोक्षोपायो धर्मः" अर्थात् जो मोक्षका उपाय है, वह धर्म है।

धर्म दो प्रकारका है—सम्वर और निर्जरा। सीधे शब्दोंमें कहें तो त्याग और तपस्या। त्याग करनेके वाद नये सिरेसे वंधन नहीं होता और तपस्यासे पुराने वन्धन टूट जाते हैं। इन दोनों की साधना करते करते आत्मा कर्म-वन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाती है। हमें यहाँ सम्वर या निर्जराका व्यापक अर्थ समझनेकी आवश्यकता है। हमने सम्वर और निर्जराको त्याग एवं तपस्या

कहा है पर इनका अर्थ केवल सौगन्ध लेना एवं उपवास करना ही नहीं।

प्रत्याख्यान (त्याग) तो सम्वर है ही। उसके अतिरिक्त आत्माकी आन्तरिक प्रवृत्तियोंका निरोध हो जाना भी सम्वर है। आन्तरिक प्रवृत्तियाँ जैसे आत्म-शुद्धिके प्रति उदासीनता, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिका अस्तित्व प्रत्याख्यान करके नहीं मिटाया जा सकता, वह तो आन्तरिक शुद्धि होनेसे ही मिट सकता है। तपस्याकी परिधि विशाल है। उसमें प्रत्येक अहिंसात्मक प्रवृत्तिका समावेश होता है। अपनी भूलोंका प्रायश्चित्त करना, विनय करना, संयमवर्धक सेवाएँ करना, स्वाध्याय करना, ध्यान करना आदि आदि सब तपस्या है। हमने धर्म की परिभाषा बनाली, उसके भेद भी ज़ान लिये। अब हमें धर्म और अधर्मका विभाजन करने वाली रेखा का ज्ञान करना है। क्योंकि यह जगत् 'नाना-मत-रुचि-गहन' है।

अहिंसा धर्म है। इसमें सब एक मत हैं। पर अहिंसा की हद क्या है? इस पर एक दूसरे की विचार-धारा टकरा जाती है। इसलिये हमें इस विषय पर जैन दृष्टिकोण समझना जरूरी है। प्रत्येक संसारी आत्मामें दो प्रकारके आचरण पाये जाते हैं—निरोधात्मक एवं प्रवृत्त्यात्मक। निरोधात्मक आचरणका अर्थ है—संयम। यह निर्विवाद धर्म है। प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है—धार्मिक एवं लौकिक। हमारा उद्देश्य इन दोनोंके बीचमें एक भेद-रेखा खींचना ही है। जिस प्रवृत्तिसे अहिंसको—राग-द्वेष एवं

मोहरहित आचरणोंको पोषण मिले, वह प्रवृत्ति धार्मिक है और उसके अतिरिक्त दूसरी जितनी प्रवृत्तियाँ हैं, वे सब लौकिक हैं।

सर्व साधारणके हितके लिये धर्मके दश भेद भी कर दिये गये हैं। जैसे—क्षमा, मुक्ति (निर्लोभता), आर्जव (सरलता), मार्दव (कोमलता), लाघव (अकिञ्चनता—निर्ममत्व), सत्य, संयम, तपस्या, त्याग एवं ब्रह्मचर्य।

धर्म शब्दका व्यवहार कितने अर्थोंमें होता है ? लौकिक कार्य धर्म क्यों नहीं माने जाते ? अथवा लौकिक कार्य धर्म नहीं तो उन्हें कोई क्यों करेगा ? यदि कोई न करेगा तो यह संसार-परम्परा कैसे चलेगी ? आदि अनेक जटिल प्रश्नोंके विषयमें मौन रह कर प्रस्तुत पाठमें हमें यह देखना है कि जीवनमें धर्म कैसे उतारा जा सकता है ?

धर्म केवल संसार त्यागकर, संन्यास धारण करके ही नहीं किया जाता। प्रत्येक मनुष्य गृहस्थमे रहता हुआ जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें धर्मका आचरण कर सकता है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य होता है कि साधु-जीवन पूर्ण धार्मिक जीवन होता है और गृहस्थ जीवनमें धार्मिक आचरण एवं लौकिक आचरण, ये दोनों होते हैं।

पर यह मानना मूर्खता है कि गृहस्थीमें रहता हुआ कोई धर्म कर ही नहीं सकता। खाना, पीना, पहनना, व्यापार करना, असमर्थको भौतिक सहयोग देना आदि गृहस्थ-जीवनके अनिवार्य काम हैं और ये सब लौकिक हैं, इनमें से प्रत्येकमें धर्मका पालन किया जा सकता है। जैसे—खाने-पीनेमें आसक्ति, गृद्धि एवं

लोलुपता न रखना धर्म है। वस्त्र पहननेमें आडम्बर एवं दिखावे की भावना न रखना, धनोपार्जन करनेमें असत्य, अन्याय आदि का आचरण न करना धर्म है। भौतिक सहायता देनेमें भी अहंभाव न रखना धर्म है। भौतिक साधन गृहस्थ-जीवन निर्वाहके साधन हैं। उनका व्यवहार चाहे अपने लिये, चाहे किसी दूसरे गृहस्थके लिये किया जाय, वह धर्म नहीं, उसके व्यव-हारमें अहंभाव—आसक्ति न रक्खे, वह धर्म है।

अभ्यास

१—धर्मके कितने प्रकार हैं ?

२—अहिंसा धर्मके विषयमें जैनोंका प्रवृत्त्यात्मक दृष्टिकोण क्या है ?

३—गृहस्थ अपने जीवनमें धर्म कैसे कर सकता है ?

१०

धर्मका वास्तविक अर्थ

भारतीय शब्दावलीमें धर्म एक ऐसा शब्द है, जिससे हमको पग-पगपर काम पड़ता है। ऋग्वेदसे लेकर आज तक इस शब्दकी ४००० वर्ष लम्बी आयु है। इतने दीर्घकालमें इस शब्दके पेटमें इतना गहरा और विस्तृत अर्थ भर गया है कि आज यदि धर्म शब्दके सब अर्थोंको इकट्ठा किया जाय, तो एक बुझौवल-सी जान पड़ती है। इस शब्दमें अमृत भी है, जिससे आदमी जी उठता है, और इसमें ऐसा विष भी है कि यदि उसका पलड़ा भारी पड़ जाय, तो समाजके शरीरको मूर्च्छित भी कर सकता है। लेकिन अच्छी वस्तुओंका भला-बुरा प्रयोग तो मनुष्यकी अपनी बुद्धि और कुबुद्धिपर निर्भर करता है। धर्म शब्दकी आड़में न केवल इस देशमें, पर बाहर भी मनुष्यने क्या नहीं किया। मनुष्यके मनमें जो ऊँची भावनाएँ हैं, उन्हींको प्रकट करनेका साधन धर्म था; लेकिन मनुष्यने स्वयं ही इस पवित्र शब्दको अपने नारकीय

जीवनका साधन भी बना डाला। मनुष्यकी करतूतोंसे ऊपर उठकर हमें धर्मके वास्तविक अर्थ और स्वरूपका विचार करना चाहिए।

भारतीय साहित्यमें सबसे पहले ऋग्वेदमें यह शब्द मिलता है। वहाँ और उसके बादके वैदिक साहित्यमें धर्म शब्दका अर्थ ऊंचे धरातलपर है। वह प्रकृतिके या ईश्वर-नियमोंके लिए प्रयुक्त होता है। ऋग्वेदका धर्म शब्द छोटे बालककी तरह अस्तित्वमें आनेके लिए अपये हाथ-पैर फैलाता हुआ जान पड़ता है। ऋग्वेद का असली शब्द तो ऋत है, जो सृष्टिके अखंड देश-काल-व्यापी नियमोंके लिए प्रयुक्त होता है। वे नियम सबसे ऊपर हैं और ब्रह्माण्डमें जो-कुछ भी है, ऋतके अधीन है। ब्रह्माण्डकी यह अखंड एकता आज विज्ञानसे प्रत्यक्ष है। प्रकाश और रश्मियोंके जो नियम पृथ्वी पर हैं, वे ही सूर्यमें हैं, और उन्हींके अनुशासनमें वे दूर-दूरके लोक हैं, जहाँसे प्रकाशको पृथ्वी तक पहुंचनेमें ही पाँच अरब वर्ष लग जाते हैं। इस विस्तृत ब्रह्माण्डको बाँधकर चलाने वाले जो नियम हैं, उनका वेदमें नाम ऋत था। अंगरेजीमें उसीके लिए Right शब्द है। लेकिन शब्दोंका भी युग बदलता है। शीघ्र ही धर्म शब्दकी महिमा बढ़ने लगी। धर्म शब्द संस्कृतकी धृ धातुसे बना है, जिसका अर्थ है धारण करना या सॅभालना। जो धारण करे, जो टेक बनकर किसी दूसरी वस्तुको रोके, वह धर्म हुआ। धर्म शब्दका यह अर्थ आसानीसे समझ में आता है। साधारण समझके आदमीको भी यह अर्थ धर्म

शब्दमें सरलतासे पिरोया हुआ दिखाई पड़ता है। अतएव ऋत शब्दकी जगह सृष्टिके अखंड नियमोंके लिए धर्म शब्दका प्रयोग बढ़ा।

अथर्ववेदमें पृथ्वीसूक्तके नामसे एक सुन्दर सूक्त है। उसमें मातृभूमिकी अनेक प्रकारसे व्याख्या की गई है और यह भी बतलाया गया है कि किन-किन नियमोंके द्वारा मातृभूमिकी रक्षा और वृद्धि होती है। उसमे पृथ्वीको 'धर्मणा धृता' अर्थात् धर्मसे धारणकी हुई कहा गया है। अवश्य ही धर्म शब्दका यहाँ वही ऊंचा अर्थ लिया गया है, जिसका सम्बन्ध धृ धातुसे है। लेकिन उसी युगमें धार्मिक विश्वासों और मान्यताओंके लिए भी धर्म शब्द प्रयोगमें आने लगा था। पृथ्वीपर रहनेवाले अनेक भाँतिके जनका वर्णन करते हुए इसी सूक्तमें यह भी कहा है कि वे नाना धर्मोंके माननेवाले हैं, जो कि हमारे देशकी एक पुरानी सचाई है। वस्तुतः साम्प्रदायिक मतके लिए धर्म शब्दका प्रयोग यहींसे आरम्भ होता है। गृह्यसूत्रोंमें धर्म शब्द रीति-रिवाजोंके लिए भी इस्तेमाल किया गया है। इस तरहके रीति-रिवाज सामयाचारिक धर्म अर्थात् पुराने समयसे आये हुए सामाजिक आचार या शिष्टाचार कहे गए हैं। इस तरहके रीति-नियम समाज और राज्य दोनोंके लिए मानने लायक होते हैं, और वे ही पंचायतों या अदालतोंमें कानूनका रूप ग्रहण कर लेते हैं। धर्मसूत्रोंमें इस तरह के सामाजिक नियमोंका संग्रह धर्म शब्दके अन्तर्गत किया गया है। इस दृष्टिसे आईन या कानूनके लिए भारतवर्षका पुराना

शब्द धर्म है, और इस अर्थमें धर्म-जैसे छोटे और सुन्दर शब्दका प्रयोग बहुत दिनों तक इस देशमें चालू रहा। अदालतके लिए धर्मासन और न्याय करनेवाले अधिकारीके लिए धर्मस्थ शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त होते थे।

इस तरहके रीति-रिवाज, जो सामाजिक या राजकीय कानून की हैसियत रखते हैं, बहुत तरहके हो सकते हैं, जिन्हें देश-धर्म, कुल-धर्म कहा गया है। पेशेवर लोगोंके संगठनको उस समय श्रेणी और पूग भी कहते थे और उनके व्यवहार श्रेणी-धर्म या पूग-धर्म कहलाते थे। मनु और याज्ञवल्क्यके धर्म-शास्त्रोंमे एवं कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें राजाको हिदायत दी गई है कि वह इस तरहके अलग-अलग धर्मों या रिवाजमें आनेवाले अमल दस्तूरोंको मान्यता दे। धर्म शब्दका यह अर्थ लगभग कानून-जैसा ही है। मनु आदिका शास्त्र भी इसीलिए धर्मशास्त्र कहलाता है। उसमें एक तरहसे समाजमें प्रचलित व्यावहारिक और धार्मिक नियमों का संग्रह था। इस तरहके संग्रहके लिए अंगरेजीका उपयुक्त शब्द 'कोड' है। दूसरेदेशोंकी पुरानी सभ्यताओंमें भी इस तरहके बहुत-से संग्रह मिलते हैं, जिनमें कुछ धार्मिक, कुछ सामाजिक, कुछ व्यक्तिगत आचार और कुछ कानूनी नियमोंके संग्रहोंमें पाए जाते हैं। इस तरहका सबसे पुराना संग्रह बेबिलोनियाके सम्राट् हम्मूरबिका कोड है। रोमन कानूनोंका संग्रह, जो 'जुस्टीनियन कोड' के नामसे मशहूर है, इसी तरहका है। भारतवर्षमें मनुका धर्मशास्त्र वैसा ही ग्रन्थ है, जिसमें धर्म शब्द कई तरहके नियमोंके

लिए लागू हुआ है।

लेकिन इन अर्थोंसे ऊपर धर्म शब्दका वह ऊँचा अर्थ जिसके अनुसार धर्म शब्द व्यक्तिगत जीवनके लिए, सामाजिक जीवन धारण करनेवाले नियमोंके लिए और सारे संसारके नियमोंको धारण करनेवाले नियमोंके लिए प्रयुक्त हुआ। वस्तुतः लोगोंको यह साफ दिखाई पड़ता था कि मनुष्य, समाज और सृष्टि तीनों की नींव या जड़में एक ही सत्य पिरोया हुआ है, जिसे उन्होंने धर्म कहा। जीवनके जो नीति-सम्बन्धी नैतिक नियम हैं, वे इसी धर्म शब्दके अन्तर्गत आते हैं। मनुने इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर सत्य, संयम, अक्रोध आदि गुणोंको धर्मके दश लक्षणोंमें माना है। धर्म शब्दके इस नीतिमूलक उच्च अर्थकी दो परम्पराएँ साफ तौरसे दिखाई पड़ती हैं। एक तो भगवान् बुद्धने धर्म शब्दका यह ऊँचा अर्थ प्रचलित किया। अपने जागे हुए चोखे मनकी शक्तिसे सारे जीवनका विश्लेषण करते हुए भगवान् बुद्धने यही निश्चय किया कि धम्म या धर्म ही अन्तिम बुनियाद है, जिसपर सृष्टि और मानव-जीवनका ठाठ रुका हुआ है। नीति-सम्बन्धी गुण भी बुद्धके धर्मशब्दके अन्तर्गत ग्राह्य थे। 'धम्मं सरणं गच्छामि'—इस तरहकी दीक्षाका जब समाजमें प्रचार हुआ, तब धम्म शब्दका वही ऊँचा अर्थ इष्ट था। किसी छोटे सम्प्रदाय या मतके लिए धर्म शब्दका प्रयोग बुद्ध या उनके विचारशील शिष्योंको मान्य नहीं था। धर्म शब्दके अर्थकी यह धारा थी, जिसने कितनी ही शताब्दियों तक लोगोंको उच्च भावोंसे

प्रेरित किया। ठीक है कि बौद्ध धर्मके दायरेमें भी हठवादी या कट्टरपंथी लोग रहे होंगे, जिन्होंने अपने छोटे-से मतको ही सच्चा समझा और उसके लिए आपसमें झगड़ा किया; पर ऐसे लोगोंकी 'दवा लुकमानके पास भी नहीं थी। क्षुद्र-हृदयके लोग सब जगह रसमें विष घोल सकते हैं। उनके लड़ाई-झगड़ेने अशोकको भी तंग कर दिया था।

धर्म शब्दकी ऊँचे धारणात्मक अर्थवाली दूसरी धारा बाल्मीकि और विशेषकर वेदव्यासके ग्रन्थोंमें मिलती है। वेदव्यासने धर्म शब्दकी जो व्याख्या की है, वह सोनेके हरूफोंमें लिखने योग्य है :

नमो धर्माय महते, धर्मो धारयति प्रजाः।
यत् स्यात् धारणसंयुक्तं, स धर्म इत्युदाहृतः ॥

अर्थात् उस महान् धर्मको प्रणाम है, जो सब मनुष्योंको धारण करता है। सबको धारण करनेवाले जो नियम हैं, वे धर्म हैं।

व्यासने अपनी 'महाभारत-संहिता' को बड़ी विलक्षणतासे धर्मशास्त्रका रूप दे डाला है। व्यासजीके मनमें धर्मका जो ऊँचा स्थान था, उसके अनुसार न केवल अर्थ, बल्कि काम भी आश्रित है, और राज्य या स्टेट भी धर्ममूलक है :

त्रिवर्गोयं धर्ममूलं नरेन्द्र !
राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति।

एक तरफ व्यासजी कहते हैं कि राज्यकी जड़ धर्मपर है और दूसरी तरफ उन्होंने कहा है कि लोगोंका सारा जीवन राज्यके

आश्रित है। 'सर्वे लोका राजधर्मप्रवृत्ता:' (शान्ति पर्व ६३, २३)। राज्य धर्मपर और धर्म राज्यपर आश्रित है। देखनेमें ये दोनों बातें एक-दूसरेको काटती है; पर सचाई यह है कि राज्य और धर्म दोनोंका मेल ही अपने नये राष्ट्रीय दृष्टिकोणमें हमको मान्य है। एक तरफ धर्म सत्य और नीतिके रूपमें राज्यको धारण करता है। सत्य नहीं, तो राज्य कुछ नहीं। भारतवर्ष सत्य या धर्ममूलक राज्यका निर्माण कर रहा है। आज संसारमें भारतकी वाणीकी जो शान है, वह इसी कारण कि उसने धारणात्मक धर्म या सत्यकी बुनियाद पर राज्यका ठाठ खड़ा किया है; लेकिन इस धर्ममें सम्प्रदायवाले धर्मको या मत-मतान्तरोंके दृष्टिकोणोंको स्थान नहीं है। व्यासने धर्मका विशद और टिकाऊ दृष्टिकोण बहुत प्रकारसे समझाया है। धर्मकी इसी बुद्धिमूलक व्याख्याके कारण व्यासका महाभारत आज भी देशकी राष्ट्रीय संहिता कहा जा सकता है। उसका मतवादसे कोई पचड़ा नहीं है। जीवनके मूल आधार सत्य या दूसरे शब्दोंमें धर्मका आग्रह ही व्यासकी चमकीली आँखोंमें भरा हुआ अर्थ है। यह हमारी मूर्खता होगी, अगर हम अपने कट्टरपन्थी पोंगापनके कारण व्यासके इस चमकते हुए हीरेके मूल्यको न जान सके। महाभारतके अन्तमें व्यास जीने भुजा उठा कर कहा था कि धर्म नित्य है, धर्मसे ही अर्थ और काम मिलते हैं। व्यासजीकी भुजा उसी तरह उठी हुई है; पर आजके दिन लोगोंने धन और कामके पीछे धर्म या सत्यको धता बता दिया है।

धर्मके सम्बन्धमें व्यासका जो दृष्टिकोण था, वही दृष्टिकोण बाल्मीकिका भी था। चरित्रको ही बाल्मीकि धर्म मानते हैं। चरित्रवान् आदर्श व्यक्तिकी कल्पना बाल्मीमिके राम हैं। बाल्मीकि के लिए चरित्र और धर्म पर्यायवाची हैं। वे कहते हैं कि धर्मको साक्षात् देखना चाहो, तो रामको देखो। राम शरीरधारी धर्म है। 'रामो विग्रहवान् धर्मः'। राम धर्म-वृक्षके बीज हैं। दूसरे आदमी उस वृक्षके फूल और फल हैं। इस एक वाक्यमें हमारी धर्ममूलक राष्ट्रीयताकी कितनी सुन्दर व्याख्या मिलती है। गांधी जी धर्म या सत्य-वृक्षके बीज हैं और सब नेता एवं कार्यकर्त्ता उस वृक्षके पत्ते, फूल और फल हैं। गांधीजीके धर्म-वृक्षसे जब तक हमारा सम्बन्ध जुड़ा है, तभी तक हमारे जीवनमें रस और तेज है। नहीं तो हमें मुरझाए हुए समझो। सत्यके वृक्षका रस सारी प्रजाओंमें फैलता है और अपने वितानसे राष्ट्रको छा लेता है। गांधीजीके धर्म-वृक्षकी छायामें आज हम सब बैठे हैं। पर इस महान् धर्म-वृक्षकी छायामें मत-मतान्तरके भेद नहीं है। गाँधीजी की यही बड़ी देन थी कि उन्होंने राष्ट्रीयताका सम्बन्ध सत्य और धर्मसे जोड़ दिया। गीताके शब्दोंमें गांधीजी द्वारा सत्यकी स्थापना धर्म-संस्थापन कहा जा सकता है। धर्मका यही वास्तविक अर्थ देशके लम्बे इतिहासके भीतरसे हमें प्राप्त होता है।

यह हर्षकी बात है कि अपने उस प्राचीन बुद्धि-योगकी रक्षा करते हुए राष्ट्रने धर्मके उस सनातन अर्थको अपने नये जीवनके लिए स्वीकार कर लिया है। मत-मतान्तर व्यक्तियोंके लिए हैं,

लेकिन धर्म राष्ट्रके लिए है। धर्म या सत्यसे ही भूमि और आकाश टिके हैं। देशके इस अनुभव पर हमारी नई राष्ट्रीयताने मानो फिरसे छाप लगा दी है। भारतीय दृष्टिसे धर्मका सच्चा प्रयोजन पारस्परिक मेल-जोल या समवाय है। आपसके मतभेद धर्मको इष्ट नहीं है। ईश्वरके प्रति किसी प्रकारका विश्वास रखो अथवा न रखो, इसके कारण मनुष्यके साथ विग्रह करनेका कारण नहीं। वार-बार यहाँके सत्यद्रष्टाओंने इस तत्त्वको समझाया है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—एक तत्त्वकी व्याख्या ज्ञानी लोग बहुत प्रकारसे करते हैं। मतों या सम्प्रदायोंके अनेक मार्ग ज्ञानके पर्वतकी एक ही ऊँची चोटी तक ले जाते हैं। आकाशसे बरसे हुए जल जैसे समुद्रमें मिल जाते है, वैसे ही अनेक मतोंके विश्वास और भक्ति-भाव एक ईश्वरमें मिलते हैं। भारतीय इतिहासकी सबसे बड़ी देन इसी अनुभवमें है : रुचीना वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां,

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

मनुष्योंकी रुचियाँ अलग-अलग है। इसीलिए उनके चलनेके टेढ़े-मेढ़े रास्ते भी अनेक है। लेकिन वे सब ईश्वरमें जा मिलते हैं, जैसे सब नदियाँ समुद्रमें लीन हो जाती है। 'नया समाज' से उद्धृत

अभ्यास

१—धर्म-शब्दको ऐतिहासिक परंपरा का विश्लेपण करते हुए बतलाइये कि उसका प्रयोग किन-किन अर्थोंमें होता रहा ?

२—अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्तमें धर्मशब्द से किस ओर संकेत है ?

३—वेदव्यासने धर्म-शब्द की क्या व्याख्या की है ?

११

भगवान् अरिष्टनेमि

हरिवंशके क्षत्रिय राजाओंमें महाराज यदु बड़े प्रतापी और शूरवीर सम्राट् हुए थे। उनके नामसे यादव वंश विश्व-विख्यात बन गया। उनके दो पुत्र हुए—शौरी और सौवीर। राजा शौरी की राजधानी शौरीपुर एवं सौवीरकी मथुरा थी।

शौरी और सौवीरके अन्धक-वृष्णि और भोजक-वृष्णि पैदा हुए। भोजक-वृष्णिके एक पुत्र जन्मा, जिसका नाम था उग्रसेन और अन्धक-वृष्णिके दश पुत्र और दो पुत्रियाँ पैदा हुईं। उनमें सबसे बड़े भाई समुद्रविजय और सबसे छोटे वासुदेव थे। समुद्र-विजयकी रानी श्रीशिवादेवी थी। श्रावण शुक्ला पञ्चमीके दिन शिवादेवीकी कोंखसे एक पुत्र-रत्नका जन्म हुआ। उनका नाम अरिष्टनेमि रखा गया। क्रमशः राजकुमार युवा हुए। उनका दिव्य रूप, अमित बल और प्राकृतिक ओजस्विता आदि बातें सबको चकरानेवाली थीं।

उन दिनोंकी बात है जब यादवोंने जरासंधके भयसे मथुरा और शौरीपुरको छोड़कर द्वारकाको राजधानी बना लिया था। द्वारका और उसके साथ-साथ यादवोंका सितारा चमक उठा था। महाराज श्रीकृष्ण और बलभद्र द्वारकाको अपने दिगन्तव्यापी साम्राज्यका शिरमौर बना चुके थे।

एक दिन श्रीकृष्णके दिलमें यह सन्देह हो आया कि अरिष्ट-नेमि मुझसे भी अजेय है। कहीं यह हमारा राज्य न छीन ले। इस विचारसे उन्होंने संसारसे विरक्त राजकुमार अरिष्टनेमिका विवाह रच डाला। ज्यों-त्यों उनसे विवाह करनेकी हाँ भरवाली। बड़ी सज-धजके साथ उनकी बरात राजा उग्रसेनकी नगरी मथुरा पहुंची। नगरके आस-पास बाड़ोंमे रोंधे हुए मूक पशुओंकी करुण कराहने राजकुमारका कोमल दिल बींध डाला। राजकुमारको सारथिसे यह मालूम हुआ कि यह बेचारे पशु आगन्तुकोंकी भोजन-सामग्री हैं। यह सुनते ही राजकुमार सहम उठे और झट बोले—मेरे लिए इतना अनर्थ ? बिना किसीको कुछ कहे-सुने झट ब्याहसे मुंह मोड़ लिया और बढ़ती हुई विराग-भावनासे दीक्षा ग्रहण कर ली।

राजकुमारी राजुल और उनकी सहेलियाँ जो अटारियों पर खड़ी २ उनकी बाट जोह रही थीं, इस बातका पता चलते ही वज्राहत सी हुई। आखिर राजुलने भी चित्तको समझा कर साधुपन अङ्गीकार कर लिया।

भगवान् अरिष्टनेमि जैनके बाईसवे तीर्थंकर हुए। भगवान्ने

केवल-ज्ञान प्राप्त कर चार तीर्थकी स्थापनाकी और लाखों जीवों का उद्धार कर वे मोक्ष पधारे।

अभ्यास

१—नेमिनाथ भगवान्‌के वंशका नाम यादव-वंश क्यों पड़ा ?

२—अरिष्टनेमिके विवाहका प्रबन्ध कृष्णने क्यों किया।

३—विवाहके लिए गये हुए अरिष्टनेमि वापिस क्यों लौट आये ?

४—जैन-धर्ममें उनका क्या महत्त्व है ?

(१२)

चार गति

हम जानते है, आत्मा अमर है। अमुक मर गया है, अमुक जन्मा है, यह भी जानते है। अमर पदार्थकी मृत्यु नहीं होती और मृत्यु हुए विना कोई पैदा नहीं होता तो फिर अमर आत्माका मरण एवं जन्म कैसे होता है ?

जन्म और मरणसे आत्माका अस्तित्व नहीं मिटता। यह तो आत्माकी अवस्थाएं हैं—आत्माको एक जन्म-स्थितिसे, दूसरी जन्म-स्थितिमें पहुंचाने वाले हैं। संसारी जीवोंकी मुख्य भवस्थितियां (जन्म-स्थितियां) चार हैं, जिन्हे चार गति कहते है—(१) नरक गति, (२) तिर्यञ्च गति, (३) मनुष्य गति और (४) देवगति।

गति शब्दका अर्थ है—चलना एवं एक स्थानसे दूसरे स्थान जाना। परन्तु यहां पर गति शब्दका व्यवहार एक जन्म-स्थिति से दूसरी जन्म-स्थितिको या एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको

पानेके अर्थमें हुआ है। जैसे—मनुष्य अवस्थामें जीव मनुष्य-गति कहलाता है और वही जीव तिर्यञ्च अवस्थाको प्राप्त हो गया तो हम उसे तिर्यञ्च-गति कहेंगे।

हमारे इस मनुष्य-लोकके नीचे सात पृथ्वियां हैं, जो नरक कहलाती हैं। उनमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंको नरक-गति कहते हैं। देव-अवस्थाको देव-गति एवं मनुष्य-अवस्थाको मनुष्य-गति कहते हैं। एक इन्द्रियवाले जीवोंसे लेकर दो, तीन, चार और पाँच इस प्रकार सभी इन्द्रियवाले जीव जिसमें जन्म धारण करते हैं, वह तिर्यञ्च-गति है। मनुष्य और तिर्यञ्च-गति हमारी आंखों के सामने हैं। नरक और देव-गति यद्यपि हमारे प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भी हम उनके अस्तित्वसे इनकार नहीं हो सकते। आत्मा एवं पुण्य-पाप हैं, तब फिर नरक एवं देवता क्यों नहीं माने जा सकते? संसारके सब जीव अपने कर्मानुसार इनमें परिभ्रमण करते रहते हैं।

(१) नरक-गति—नरक सात हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा। ये सात पृथ्वियां नीचे लोकमें हैं। इनमें जो जीव उत्पन्न होते हैं, वह नरक-गति है।

(२) तिर्यञ्च-गति—एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर पाँच इन्द्रियों वाले खेचर तक जो जीव बतलाये हैं, वह तिर्यञ्च-गति है।

(३) मनुष्य-गति—मनुष्यकी अवस्थाको प्राप्त करना मनुष्य-

गति है। मनुष्य दो तरह के होते हैं—संज्ञी और असंज्ञी। जिन मनुष्यों के मन होता है, वे संज्ञी कहलाते है और जिनके मन नहीं होता है, वे असंज्ञी कहलाते है। संज्ञी मनुष्य गर्भ से उत्पन्न होते है और असंज्ञी मनुष्य मनुष्य-जाति के मल-मूत्र, श्लेष्म आदि चौदह स्थानों से पैदा होते है। वे बहुत सूक्ष्म होते है, इसलिए हमे दिखलाई नहीं देते।

(४) देव-गति—जो जीव देवयोनिमे पैदा होते है, वे देव-गति है। देवता चार तरहके होते है—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक।

(१) भवनपति देवता दश प्रकार के होते है—जैसे असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, विद्युत्कुमार, द्वीप-कुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वातकुमार और स्तनित-कुमार।

(२) व्यन्तर की आठ जातियाँ है—पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व।

(३) ज्योतिष्क पांच प्रकार के हैं—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा।

(४) वैमानिक देवता दो तरह के है—कल्पोपपन्न और कल्पा-तीत। कल्पोपपन्न बारह है—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, शुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत। ये बारह देवलोक हैं, इनमें जो देवता पैदा होते है, वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं। इनमें

स्वामी-सेवक आदि का कल्प होता है, इसलिये इनको कल्पोपपन्न कहते हैं।

आगे के नवग्रैवेयक और पांच अनुत्तर-विमानमें उत्पन्न होने वाले देव कल्पातीत होते हैं, उनमें स्वामी-सेवक आदि का कोई भी व्यवहार नहीं होता। अतएव वह अहमिन्द्र (स्वयं इन्द्र) कहलाते हैं।

अभ्यास

१—आत्मा के अमर होने पर भी उसका जन्म व मरण कैसे होता है ?

२—तिर्यञ्च-गतिमें कौन-कौन से प्राणी होते हैं ?

३—कौनसे देवता कल्पोपपन्न व कल्पातीत होते हैं और क्यों ?

४—देवताओं के कितने भेद हैं, प्रत्येक का नाम गिनाओ ?

५—गति का क्या मतलब है ?

(१३)

चौवीस दण्डक

जहां प्राणी अपने कृत-कर्मों का फल जो एक प्रकार का दण्ड है, भोगते हैं, उन स्थानों—अवस्थाओंको दण्डक कहते हैं। जीव अपने कर्मानुसार चार गतियोंमें चक्कर लगाता रहता है। चारों गतियोंको कुछ और विस्तृत करने से उनके चौवीस विभाग होते हैं, जो चौवीस दण्डक कहलाते हैं :—

१ सात नरक

१० भवनपति देवोंके

क—असुरकुमार

ख—नागकुमार

ग—सुपर्णकुमार

घ—अग्निकुमार

ङ—विद्युत्कुमार

च—द्वीपकुमार

छ—उदधिकुमार

ज—दिक्कुमार

झ—वातकुमार

ञ—स्तनितकुमार

१२ पृथ्वीकाय

१३ अप्काय

१४ तेजस्काय

१५ वायुकाय

१६ वनस्पतिकाय

१७ द्वीन्द्रिय

१८ त्रीन्द्रिय

१९ चतुरिन्द्रिय

२० तिर्यञ्च-पञ्चेन्द्रिय

२१ मनुष्य-पञ्चेन्द्रिय

२२ व्यन्तर (देव)

२३ ज्योतिष्क (देव)

२४ वैमानिक (देव)

नीचे लोकमें जो सात पृथ्वियाँ हैं, उन्हें नरक कहते हैं। व क्रमशः एक दूसरे के नीचे-नीचे हैं। एक दूसरी के बीचमें बहुत बड़ा अन्तर है।

भवनपति—ये देव भवनोंमें रहने के कारण भवनपति कहलाते हैं। इनके भवन नीचे लोकमें हैं किन्तु श्रेणीवद्ध नहीं।

एक दूसरे के भवनोंमें अन्तर है, इसलिए इनके दश विभाग किये गये हैं। इनको नरक के बाद इसलिए बताया है कि इनके भवन पहली भूमि यानी पहले नरक के प्रस्तरोंमें है। ये मध्य लोकमे भी आते रहते है।

पृथ्वीकाय से लेकर मनुष्य-पञ्चेन्द्रिय तक के दण्डकों का विशेपार्थ अपने-अपने स्थलोंमें आ चुका है।

व्यन्तरदेव—विविध प्रकारके वन, पहाड़, गुफा एवं वृक्षोंमें बसने के कारण ये व्यन्तर कहलाते हैं। इनका निवास मध्य-लोक मे ही है। इनकी आठ जातियाँ है—किन्नर, किंपुरुप, महोरग, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

ज्योतिष्क देव—प्रकाशमान विमानोंमें रहने के कारण ये देव ज्योतिष्क कहलाते है। हमे जो सूर्य, चन्द्र दीखते हैं, वे ज्योतिष्क देव नहीं, वे तो उनके विमान है। इन पर वे कभी कभी क्रीड़ा करने आया करते है। उनका शाश्वतिक निवास पृथ्वी पर होता है।

वैमानिक देव—ज्योतिश्चक्र से असंख्य योजन की दूरी पर छब्बीस देवलोक हैं। उनमें उत्पन्न होनेवाले देव वैमानिक कहलाते हैं। ये सबसे अधिक वैभवशाली होते है। ये दो भागोंमें बंटे हुए हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्पोपपन्न देवोंमें स्वामी-सेवक, बड़े-छोटे आदिकी मर्यादाएँ होती हैं। कल्पातीत देवोंमें स्वामी-सेवक का कोई भेद नहीं होता। वे सब 'अहमिन्द्र' (मैं इन्द्र) होते हैं।

अभ्यास

१—दण्डक का क्या अर्थ है ?

२—भवनपति देवताओं को नरक के बाद गिनाने का क्या प्रयोजन है ?

३—वैमानिक देवता किसे कहते हैं और उनका दण्डक कौनसा है ?

४—मनुष्योंमें कौनसा दण्डक है ?

(१४)

लोकरुचि और आत्म-साधना

लोकरुचि और आत्म-साधना दोनों समरेखामें अवस्थित मार्ग है। इनमें वैर-विरोध नहीं तो मेल भी नहीं है। दोनों अपने अपने काममें संलग्न हैं। जहाँ कहीं इनको एक करनेकी भूल होती है, वहीं गड़बड़ मच जाती है। फिर धर्म क्या है और लौकिक कार्य क्या है, इसकी कोई भेद-रेखा मालूम नहीं पड़ती। भौतिक पदार्थोंमें मग्न रहनेवालोंके लिये वह ऐसी आवश्यक भी नहीं किन्तु आत्मसाधक उसको समझे विना एक पैर भी नहीं चल सकता, अतः आत्मसाधकोंके लिए चाहे वे किसी भी श्रेणीके हों, लौकिक कार्य एवं धर्मका अन्तर समझना आवश्यक हो जाता है।

आत्म-साधनाका—धर्मका मार्ग सब जगह लोकरुचिके अनुकूल नहीं हुआ करता है। दुनियांके जितने कार्य हैं, उन

सबमें धर्म श्रेष्ठ समझा जाता है। अतः दुनियावी लोग प्रत्येक काम पर फिर भले ही वे आत्म-साधनाके प्रतिकूल हों, धर्मकी पुट लगानेको उत्सुक रहते हैं। अपने लिए सब कुछ सांसारिक काम-धन्धे करते हैं, उनमें धर्म नहीं होता, उसकी कोई पर्वाह नहीं किन्तु दूसरोंके लिये एक तिनका भी इधरसे उधर करना हो तो उसमें धर्म माने बिना करनेसे हिचकते हैं। आखिर दिलको संतोष देनेके लिए उसे धर्मार्थ मानकर ही सुखकी सांस लेते हैं।

खैर, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं, प्रत्येक व्यक्तिको विचार-स्वातन्त्र्यका अधिकार होता है, अतः जो अच्छा लगे वही स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु सत्य किसीकी इच्छाके अनुसार नहीं बदलता, वह अपने निजी स्वरूपमें रहता है। लौकिक क्षेत्र एवं धार्मिक क्षेत्र दोनोंमें परोपकारका महत्त्व माना गया है पर दोनों का स्वरूप एक नहीं है। कोई मनुष्य लायमें जलते हुए एवं कुएंमें गिरते हुए प्राणीको बचाता है तथा रोगीको दवा देता है—यह सब सांसारिक उपकार हैं—पारस्परिक सम्बन्ध हैं, मोक्षका मार्ग नहीं। क्योंकि जो असंयती है, भोगी है, उसके जीनेकी इच्छा करना राग और मरनेकी इच्छा करना द्वेष है। जब इच्छा करना भी राग-द्वेष है तब फिर उसके लिए कार्य करना धर्म कैसे हो सकता है?

राग-द्वेष दोनों संसारके बन्धन हैं, इन दोनों बन्धनोंके टूटनेसे मोक्ष प्राप्त होता है। आत्म-शुद्धिके बिना कहीं भी धर्म नहीं हो सकता, या यों कहिये कि धर्मके बिना कहीं भी आत्म-

शुद्धि नहीं हो सकती। शरीरको बचाना और उसकी सुख-सुविधाओंके लिए भौतिक साधन एकत्रित करना धर्म कैसे हो सकता है? क्योंकि वह शरीर अभी हिंसाका साधन है, सब प्रकारकी हिंसासे निवृत्त नहीं हुआ है।

हमारे कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि उससे आगे भविष्यमें हिंसा होगी, अतः वह हिंसाका साधन है किन्तु वह वर्तमानमें भी—स्थूल दृष्टिमें हिंसा न करता हुआ भी जब तक हिंसाको पूर्णरूपेण छोड़नेका दृढ़ संकल्प नहीं करता है, तब तक हिंसाका साधन है। उसका टिका रहना, खाना-पीना आदि सब कुछ सांसारिक लालसामें शुमार होता है। और क्या, जब तक जीवन में हिंसाके अंश विद्यमान रहते हैं—पूर्ण अहिंसाकी साधनामें—अवस्थामें नही चला जाता है तब तक न तो उसका अपने आप खाना-पीना, जीवन चलाना धार्मिक कार्य हो सकता है और न अपने जैसे दूसरेको खिलाये-पिलाये, वह भी।

हां, यदि वही शरीर हिंसाको सर्वथा त्याग दे तो उसका अहिंसाकी मर्यादाके अन्तर्गत खाना-पीना धार्मिक है—एक साधना है। यह विवेचन आत्म-साधनाके दृष्टि-बिन्दु से है। जहां इसका प्रश्न न हो, सिर्फ लोक-दृष्टिकी अपेक्षा हो, वहाँ इसको लोक-धर्म, युग-धर्म, समाज-धर्म, गृहस्थ-धर्म, जो कुछ कहा जाय, उसमें कोई अड़चन नहीं आती। पर जब कोई इन दोनोंको तौलने बैठता है तब यह अन्तर दिखलाना ही होगा।

अभ्यास

१—लायमें जलते हुए मनुष्यको बचाना अध्यात्मधर्म क्यों नहीं ?

२—संसारी लोग सांसारिक कार्योंको धार्मिक क्यों कह देते हैं ?

३—भविष्यमें होनेवाली हिंसासे वर्तमानका कोई सम्बन्ध है या नहीं ?

४—लोक-धर्म और अध्यात्म-धर्ममें क्या अन्तर है ?

(१५)

धर्म और लौकिक कर्तव्य

धर्मकी वर्तमान दशा, अत्यन्त सन्दिग्ध हो रही है। उसका एक कारण तो यह है कि धर्मका आचरण करना बहुत कठिन है। इसलिये लोग ज्यों त्यों उसे सरलताके ढाँचेमें ढालनेकी चेष्टा करते हैं। दूसरा कारण यह है कि धर्म शब्दके अनेक अर्थ हैं—कर्तव्य, स्वभाव, रीति-रिवाज, आत्म-साधनाका उपाय आदि अनेक अर्थोंमे इसका प्रयोग होता है।

हम आत्म-साधनाके लिये त्याग एवं तपस्याके अर्थमें प्रयुक्त होनेवाले धर्म शब्दको ही आध्यात्मिक धर्मके अर्थमें लेते है। कुटुम्ब-पोषण करना गृहस्थका धर्म है। शत्रुसे लड़ना योद्धाओंका धर्म है। दीन-दुखियोंकी सहायता करना उदार व्यक्तियोंका धर्म है, कष्ट-निवारण करना परोपकारी पुरुषोंका धर्म है—यहाँ धर्म शब्दका प्रयोग कर्तव्यके अर्थमें हुआ है। उष्णता अग्निका धर्म है—धर्म शब्दका यह प्रयोग स्वभावके अर्थमें हुआ है। गाँव

का धर्म, नगरका धर्म, राष्ट्रका धर्म—इनमें धर्म शब्द गाँव-नगर-राष्ट्रमें बरती जानेवाली रीति-रिवाज—व्यवस्थाके अर्थमें आया है। अहिंसा-धर्म, संयम-धर्म, तपस्या-धर्म—इनमें धर्म शब्दका व्यवहार आत्म-साधनाके मार्गके अर्थमें हुआ है।

धर्म शब्दका प्रयोग किन २ अर्थोंमें होता है, यह ऊपरके उदाहरणोंसे स्पष्ट हो जाता है। एक ही धर्म शब्द अनेक भावनाओंको व्यक्त करता है किन्तु अब हमें यह देखना चाहिये कि धर्मसे हमारा तात्पर्य क्या है ? हम किसलिये कौन-सा धर्म चाहते हैं ? यदि लोक-व्यवस्था करनी है तो गाँव-धर्म, नगर-धर्म अपनाना होगा किन्तु उसके द्वारा आत्म-साधना नहीं की जा सकती। आत्म-साधना करनी है तो अहिंसा-धर्म एवं संयम-धर्म अपनाना होगा पर उसके द्वारा गाँव और नगरकी आवश्यक व्यवस्था पूरी नहीं हो सकती। उदाहरण-स्वरूप देखिये—एक गाँव या नगरके धनी मानी लोगोंसे लेकर दीन अनाथों तकके लिये खाद्य-सामग्री का प्रबन्ध करना है, तो वह शासन-व्यवस्थाके अन्तर्गत ही किया जा सकता है, अहिंसा-धर्म—संयमसे नहीं।

धर्म शब्दके शाब्दिक विश्लेषणसे ही हम यह समझते हैं कि आत्म-मुक्तिके लिए धर्मका जो अर्थ है, वह दूसरे-दूसरे धर्म शब्दों से सर्वथा भिन्न है। जब हम इनके आर्थिक विवेचनमें घुसते हैं तब तो इनका अन्तर पानीमें नावकी तरह तैरने लग जाता है। आत्म-साधनाका मौलिक मार्ग अपरिवर्तनीय है, सर्वसाधारण है तथा बन्धनसे मुक्तिकी ओर ले जानेवाला है। इस दशामें ग्राम-

धर्म, नगर-धर्म परिवर्तनीय है, भिन्न-भिन्न देश, जाति या वर्गोंके भिन्न भिन्न है तथा मुक्तिसे बन्धनकी ओर ले जानेवाले है।

इस आशयको आचार्य श्री तुलसी गणीने निम्न शब्दोंमें व्यक्त किया है—"अपरिवर्तनीयस्वरूपत्वेन लौकिककर्तव्याद् धर्मो भिन्न., सर्वसाधारणत्वेन मोक्षोन्मुखत्वेन च।" अपनी सुविधाके अनुसार जिन-जिन कामोंको लोग कर्तव्यरूपसे निर्धारित करते है, वह लौकिक कर्तव्य हैं। धर्मकी परिभाषा हम पहले ही बतला-चुके है कि जो आत्म-साधनाका पथ है—मोक्षका उपाय है, वह धर्म है।

अब जरा ध्यानसे देखिये—धर्म किसके लिये है और लौकिक कर्तव्य किसके लिये? धर्मसे हम कहाँ पहुंचा चाहते हैं और लौकिक कर्तव्यसे कहाँ? धर्म करनेका हमारा लक्ष्य क्या है और लौकिक कर्तव्यका क्या?

अभ्यास

१—धर्म शब्दके कितने अर्थ हैं?

२—धर्म लौकिक कर्तव्योंसे भिन्न क्यों है?

३—लौकिक कर्तव्योंका लक्ष्य क्या है?

१६

गृहस्थमें धर्म

यह प्रश्न अनेकों बार सामने आया करता है कि घरमें रहते हुए गृहस्थ धर्म कर सकते हैं या नहीं ? इसके बारेमें कई दर्शनोंकी सम्मति तो यहां तक है कि गृहस्थ घरमें रहता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जैन-दर्शन यद्यपि इससे सहमत नहीं, तो भी यह निश्चित है कि गृहस्थ व्यापार आदिके द्वारा गृह-निर्वाह करता हुआ भी धर्मकी आराधना कर सकता है।

यों तो जो-जो शुद्ध आचरण हैं, वह सब धर्म है तथापि धर्मके अधिकारियोंकी अपेक्षासे उसके दो भेद किये हैं—पूर्ण-धर्म और अपूर्ण-धर्म। पूर्ण-धर्मके अधिकारी वही व्यक्ति हो सकते हैं, जो अपनी समस्त वृत्तियोंको त्याग-तपस्यामें लगाकर पूर्ण संयमी बन जाते हैं। अपूर्ण-धर्मके अधिकारी प्राणीमात्र हैं। उदाहरण स्वरूप अहिंसा धर्म है। गृहस्थ अहिंसाका पूर्ण पालन नहीं कर सकता तो भी अनावश्यक हिंसाको बरज सकता है। हिंसामें

रहता हुआ गृहस्थ जो अनावश्यक हिंसाको वरजता है, वह धर्म है। एक गृहस्थ खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने आदि कर्मोंमें होनेवाली सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा, अपराधी वड़े जीवोंकी हिंसा तथा प्रमाद-वश होनेवाली हिंसा छोड़नेमें असमर्थ रहता है, वह धर्म नहीं किन्तु निरपराध जीवोंको जान बूझकर मारनेका त्याग करता है, वह धर्म है। ऐसे ही वड़ी झूठ, झूठी गवाही आदिसे बचना, बड़ी चोरीका परिहार करना, परस्त्रीका परित्याग करना, परिग्रह—धन-धान्य आदिका अनावश्यक संग्रह न करना और आवश्यक हिंसा का भी संकोच करना धर्म है। गृहस्थ गृहस्थपनमें रहते हुए क्षमा करते हैं, मैत्रीका वर्ताव करते हैं, सरलताका आदर करते है आदि २ सव काम धार्मिक है—आत्माको ऊंचा उठानेवाले हैं। धर्म एक ऐसी चीज है कि उसे अगर आन्तरिक शुद्धि हो तो हर जगह हर एक दशामें हर एक व्यक्ति कर सकता है। धर्म कोई बाह्य वस्तु नहीं, वह अपनी २ आत्माका गुण है। धर्मका अर्थ आत्म-साधना और आत्म-संयम है।

धर्म-शास्त्र और धर्म-गुरु आदि सव धर्मके व्यावहारिक साधन हैं। आत्माको धार्मिक वनानेके लिए इनकी नितान्त आवश्यकता है। पर असलियतमें धर्म अपने २ आचरणों पर ही निर्भर है। एक कोई आदमी धर्म करना नहीं चाहता तो उससे धर्म-शास्त्र, धर्म-गुरु या दूसरा कोई भी वलपूर्वक धर्म नहीं करवा सकते। अतएव धर्मका साधन उपदेश (शिक्षा) वतलाया गया है। सत् शिक्षाके द्वारा मनुष्य धर्मकी असलियत पहचान लेता है। और

उसके बाद वह आत्म-संयम और शुद्ध-आचारका अभ्यास करता है।

न्यूनाधिक रूपमें हर एक व्यक्तिमें शुद्ध आचारका अंश मिलता ही है। जिन गृहस्थोंका आत्म-साधनाकी ओर अधिक झुकाव हो जाता है, वे अर्थ-हिंसाका भी संकोच करने लग जाते हैं और अपनी वृत्तियोंको अधिकाधिक सन्तुष्ट बना डालते हैं। कहीं २ गृहस्थ साधु-व्रत स्वीकार किये बिना भी संयमका प्रचुर अभ्यास करनेके कारण साधुवत् बन जाते हैं, जो प्रतिमाधारी श्रावक कहलाते हैं।

अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि नियमोंका पालन करना गृहस्थोंके लिए भी खास जरूरी है। इनके बिना मानव-जीवन पशु-जीवनसे विशेष उपयोगी नहीं हो सकता।

अभ्यास

१—अधिकारियोंकी अपेक्षा धर्म कितने प्रकारका है ?

२—धर्मका निश्चित साधन क्या है ?

३—गृहस्थ-जीवनमें उच्च त्यागी होनेवाला किस नामसे पुकारा जाता है।

राग और द्वेष

राग—"असंयमसुखाभिप्रायो रागः[1]"—असंयममय सुखकी अभिलाषाका नाम राग है।

द्वेष—"दुःखाभिप्रायो द्वेषः[2]"—दुःख देनेके अभिप्राय (विचार) को द्वेष कहते है।

रागके दो भेद है—माया और लोभ। द्वेषके दो भेद है—क्रोध और मान।

क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारोंका नाम कषाय है। "कषस्य—भवभ्रमणस्य आयत्वात् कषायः" और यही संसार-परिभ्रमणका मुख्य हेतु है। जैसे—

"रागो य दोसो विअ कम्मबीअं"

राग-द्वेष ये दोनों कर्मके बीज हैं—हेतु हैं। आगममें इन

१—जैन-सिद्धान्त-दीपिका

२—जैन-सिद्धान्त-दीपिका

दोनोंको बन्धन कहा है। राग मीठा बन्धन है, इसलिए उसे सोने की बेड़ीके समान कहते हैं और द्वेष कठोर बन्धन है, इसलिए उसे लोहेकी बेड़ी कहते हैं। पर वास्तवमें हैं दोनों बन्धन ही। द्वेषकी अपेक्षा रागका बन्धन जटिल है। क्योंकि वह सहजतया समझनेमें नहीं आता। एक क्रोधी आदमीको दुनियां खराब बतला देती है पर स्नेह करनेवालेको कोई भी खराब नहीं कहता। इसलिए कहा गया है कि—

द्वेष-रहस्य समझे सहु, तिम रागनो माग।
समझावाने कारणे, अभिधा वीतराग॥
(आचार्य तुलसी)

निर्मोह आत्माओंको वीतद्वेष न कहकर वीतराग कहनेका तात्पर्य यही है कि उन्होंने राग जैसे दुर्भेद्य और गुप्त बन्धनको भी तोड़ डाला।

असंयम और संयम

असंयम—[1]"हिंसादेरनिवृत्तिरसंयमः"—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रहसे निवृत्त न होनेका नाम असंयम है।

संयम—[2]"तद्विरतिः संयमः"—असंयमसे विरतिका नाम ही संयम है अर्थात् हिंसा आदिसे सम्यक् ज्ञानपूर्वक निवृत्त होना ही संयम है।

१—जैन-सिद्धान्त-दीपिका

२—जैन-सिद्धान्त-दीपिका

जिसमें असंयम होता है, वह असंयमी या असंयति कहलाता है। असंयमका अपूर्णरूपेण निरोध करनेवाला अथवा संयमका अपूर्णरूपेण पालन करनेवाला संयतासंयति—श्रावक कहलाता है।

अभ्यास

१—राग और द्वेषकी परिभाषा ससूत्र बतलाओ ?

२—भगवान्‌को वीतद्वेष न कहकर वीतराग क्यों कहा ?

३—संयतासंयति किसे कहते हैं ?

मानवताका वह युग ही सतयुग होगा

सभ्यता और संस्कृतिके नाम बड़े प्यारे लगते हैं, इनके नाम पर हमारे अन्दर आत्म-गौरव ही नहीं, अहंकार भी उमड़ आता है। हैं तो ये मानवताके संरक्षण और उत्थानके लिए पर इनके नाम पर मानवने मानवताके इतने टुकड़े किये हैं, कि वह घायल होकर कराह रही है। सभ्यता और संस्कृतिके दायरेमें ऐसी-ऐसी बातें शामिल की जाती हैं कि जिनका मानवताके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता। सभ्यता और संस्कृतिका मैं सीधा अर्थ यह समझता हूं—

सभ्यताका अर्थ है सभाका धर्म। जब दश-बीस आदमी एक जगह सभा बनाकर बैठते हैं, तब एक दूसरेका बड़ा ख्याल रखते हैं, शिष्टताका पालन करते हैं और थोड़ी-सी जगहमें ज्यादासे ज्यादा आदमी आने पर भी संघर्ष नहीं होने देते। यही सभा का धर्म है। यही धर्म जब जीवनमें दिखाई देने लगता है, तब

इसे सभ्यता कहते हैं। सभ्यताका अर्थ यह हुआ कि हम दूसरे के साथ ऐसा व्यवहार करें, जिससे उन्हें कोई अड़चन न हो, उनके किसी अधिकारको धक्का न लगे और न किसी तरहकी शान्ति भंग हो। सभ्यताकी इस परिभाषामें मानवताके टुकड़े २ करनेवाली कोई बात नहीं आती। हर एक बात मानवताको जोड़ने वाली है।

इस सभ्यताको अपना स्वभाव बनानेके लिए हमारे हृदय पर संस्कार डाले जाते हैं—सत्सङ्ग-शिष्टाचार आदिसे हृदय पर जो छाप डाली जाती है इसे संस्कार कहते हैं। इस तरह सभ्यता और संस्कारमें एक तरहका कार्य-कारण-भाव है। दोनों ही मानवताके अङ्ग और मानवताके पूरक हैं।

पर आज तो जैसे सभ्यता और संस्कृतिके हमने अर्थ ही बदल दिए हैं। सभ्य हम उसे कहते हैं, जिसके पास एकसे एक बढ़ कर शस्त्रादि हैं, जो निरपराध लोगोंका संहार कर सकते हैं, छल और बलसे दूसरोंका शोषण कर सकते हैं। असभ्य वे हैं, जो सीधे-साधे हैं, सादगीसे रहते हैं, किसीको सताते नहीं। अर्थात् आजकी परिभाषामें शैतानियत सभ्यता है और इन्सानियत असभ्यता। इस असत्य परिभाषाका दुष्परिणाम मानवको भोगना पड़ रहा है। सभ्यताकी रक्षाके नामपर आये दिन युद्ध होते हैं। विज्ञान जितना निर्माण करता है, उतना संहार होता है और स्वर्गके लायक सामग्री पास रखकर भी हम नरक बना बैठते हैं। अगर मानव जिन्दा रहा, तो इस सभ्यताको मिटाना

होगा। तबं वास्तविक सभ्यता मनुष्यके अन्दर दिखलायी देगी जिसका रूप होगा विश्व-प्रेम, मानव-जाति, मानव-राष्ट्र तथा मानव-धर्म। इसीको पानेके लिए हमें मानवका निर्माण करना है। मनुष्याकार जन्तुके हृदय पर मनुष्यताकी छाप मारनी है। यही है हमारी संस्कृति। इस वास्तविक सभ्यता और संस्कृतिके द्वारा हमें मानवताका राज्य-निर्माण करना है।

तुम कैसे उठते-बैठते हो, कैसे खाते-पीते हो, कैसे मकान बनाते हो, कैसे कपड़े पहनते हो, शिष्टाचारके नियम कैसे रखते हो, और भाषा कौनसी बोलते हो, उपरोक्त बातें संस्कृतिकी मुख्य अङ्ग नहीं हैं। इनमेंसे किसी एकको भी हम मानवताके लिये आवश्यक नहीं समझते। इनके लिये मानवकी आत्माके टुकड़े टुकड़े नहीं किये जा सकते।

आज वैज्ञानिक साधनों ने, सारी दुनियाको एक गाँव या बाजार बना दिया है। गाँवके बाजारकी खबरें जितनी जल्दी नहीं मिलती, उससे जल्दी हमें एशिया, योरुप, अमेरिका आदि राष्ट्रोंकी खबरें मिल जाती हैं। पहले हम बैलगाड़ीमें एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जितनी देरमें जा पाते थे, उतनी या उससे भी कम देरमें आज हम महा-द्वीपके इसकोनेसे उस कोने तक पहुंच जाते हैं। पड़ोसीके घर आग लगने या किसी अन्य भली-बुरी घटना का जितना असर हमारे ऊपर पड़ता था, उससे ज्यादा असर हजारों मीलकी घटनाओंका हमपर पड़ता है। सचमुच दुनिया आज बहुत छोटी होगई है। पुराने जमानेमें सम्बन्ध न आनेसे

हम जितने भेद-भावोंको सुरक्षित रखसके, आज उन्हें नहीं रख सकते और न रख सकनेकी जरूरत है। आज वह दुहाई व्यर्थ है कि अमुक संस्कृति इतनी पुरानी है ; इसलिये उसे हम कयामत तक सुरक्षित रखेंगे। अबतो दो अरबसे अधिक मनुष्योंकी एक मानव-जातिके भाग्य एकही कडाईमें पक रहे हैं। उसकी एकही सभ्यता होगी, एकही संस्कृति होगी, एकही भाषा होगी, और अंत में होगा सबका एक मानव-राष्ट्र। यह सब जबरदस्ती नहीं होगा, साम्राज्यवादके आधारसे भी नहीं होगा, एक देश दूसरे देश पर, एक संस्कृति दूसरी संस्कृति पर सवार नहीं होगी, किन्तु मानव ही अपने विवेकसे व्यापक मानवताकी मूर्ति-निर्माण करेगा और उसमें प्रत्येक मानवकी सहानुभूतिही नहीं, सहयोग भी होगा।

मैं समझता हूं कि मनुष्यके पास जो असाधारण बुद्धि है, उसको चिरकालतक वह शर्मिन्दा न करेगा। वैज्ञानिक साधनोंके जरिये जैसे बाहरी दृष्टिसे मनुष्य, मनुष्यके पास आगया है, उसी तरह उसका हृदय भी हृदयके पास आजायेगा। सभ्यता और संस्कृतिके नाम पर हमें मानवताके टुकड़े नहीं करना है, प्रत्युत टुकड़े टुकड़े हुई मानवताको जोड़ना है। सभ्यता और संस्कृतिके जो बाहरी रूप जलवायुसे सम्बन्ध रखते हैं, वे उस जलवायुमें वहां रहने वाले हर एक आदमीकी सम्पत्ति होंगे। उनपर जातीयता या राष्ट्रीयताका ऐसा रङ्ग नहीं चढ़ेगा कि जिससे मानवमें विभिन्न जातीयता का निर्माण हो।

सच पूछा जाये तो जब हम पैदा होते हैं तब हमारी सभ्यता-संस्कृति होती ही क्या है ? सब नङ्गे पैदा होते हैं; न दाढ़ी, न चोटी, न टोप, न कुर्ता, न अंगरखा, न शेरवानी, न धोती; न हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि कोई भाषा। सब हम इधर-उधर से उधार ही तो लेते हैं। जो हमारे पासमें आया, वही सच्चा, और जो दूर पड़ गया वह बुरा—यह सत्य-असत्यका निर्णय नहीं। जो हमारे पास है वह किसीके लिये दूर है, जो हमसे दूर है वह किसीके पास भी है, फिर किसको सत्य और किसको असत्य कहा जाय ? इसलिये यह कसौटी तो हमें छोड़नी पड़ेगी। जिसमें सबको सुभीता हो, जिससे सबमें मेल जोल हो, अहंकारकी पूजा न होकर सत्यकी पूजाहो और विश्व-कौटुम्बिकता की जो साधक हो वही सभ्यता और संस्कृति हमें अपनानी होगी। जब हम इस सभ्यता और संस्कृति को अपना लेंगे तब यह दुनियाँ एक नयी दुनियाँ बन जायेगी। उस समय विभिन्न वेषोंके रहने पर भी एक मानव-राष्ट्र होगा। सबके भीतर मानवता ओत-प्रोत होगी। मानवताका यह युग ही हमारा सतयुग होगा। (जैनभारतीसे उद्धृत)

अभ्यास

१—सभ्यताकी क्या परिभाषा है ?

२—शान्ति कैसे संभव हो सकती है ?

३—सभ्य पुरुष किसे कहना चाहिए ?

४—जो संस्कृति जितनी पुरानी है, क्या वह उतनी ही अच्छी होगी ?

(१९)

जैन-संस्कृति

संस्कृतिका जीवन पर अचूक प्रभाव हुआ करता है। इसी लिए सबको अपनी-अपनी संस्कृति पर गौरव रहता है। संस्कृति में मन्तव्यकी एक स्फुट झलक होती है। मन्तव्य कुछ और ही रहे एवं संस्कृति कुछ और ढंगकी बरती जाय, यह उचित नहीं माना जाता। जैन सिद्धान्तोंके अनुशीलन करनेवालोंको यह जानना परमावश्यक है कि जैन-संस्कृतिकी आधार शिला क्या है? यह किन तत्त्वों पर मंढी गई है।

जैन-दृष्टिमें विचार और आचारका एकसा महत्त्व है। विचार-सरणिके अनुसार तत्त्व दो है—(१) जीव और (२) अजीव। इन दोनोंका आपसमें सम्बन्ध होना ही सब तरहके विकार एवं दुःखोंका कारण है और अजीवसे जीवका पृथक्-करण हो जाना ही परमसुख, आत्माका परम स्वरूप अर्थात् शुद्ध-रूप है। जैन दर्शनका उद्देश्य यही है, अर्थात् कर्म (जड़-द्रव्य) से विसम्बन्ध

करना, आत्म-मुक्ति प्राप्त करना है। जड़-द्रव्यसे सर्वथा मुक्त हो जानेवाले ही परमात्मा हैं। प्रत्येक व्यक्ति परमात्मा बन सकता है। जैनोंकी आचार परम्परामें जिन दो तत्त्वोंको स्थान मिला है, वे हैं—संवर और निर्जरा।

संवरका अर्थ—आत्म संयम है। उसमें आत्माके साथ होने वाले जड-द्रव्यका सम्बन्ध रोका जाता है और निर्जरासे पहले बंधे हुए जड-द्रव्यको अलग किया जाता है। भावी सम्बन्धको रोकनेसे एवं अतीत सम्बन्धको तोड़नेसे आत्मा जड़-द्रव्यसे पृथक् होकर परमात्मा बन जाती है।

अब हम देखते हैं कि जैन-दर्शन आत्माके असली स्वरूपको प्रकट करनेके उद्देश्यसे चलता है और संवर निर्जराके द्वारा उसे प्राप्त करवानेके अन्तिम ध्येय तक पहुंच जाता है। जैन-संस्कृति का निर्माण इन्हींके आधार पर हुआ है। अपनी संस्कृतिको भुला देनेका अर्थ होता है अपने लक्ष्यको भुला देना।

अपनी-अपनी आत्माको ही सुख-दुःखका कर्ता-धर्ता माननेवाला कष्ट आ पड़ने पर कहे कि क्या किया जाय? 'ईश्वरकी ऐसी ही इच्छा थी' और कुछ लाभ होने पर 'ईश्वरकी बड़ी कृपा है'। किसीकी मृत्यु हो जाने पर संवेदना प्रकट करते हुए 'ईश्वर उस मृत आत्माको शान्ति पहुंचाए,' इत्यादि अनेक ऐसी बातें हैं जो आत्म-कर्तृत्ववादियोंके लिए अनुचित ही नहीं अपितु उनके सिद्धान्तका गला घोंटती है।

जैन-संस्कृतिमें जहां आत्म-सामर्थ्य एवं आत्म-स्वातन्त्र्यका

चरम कोटिक उपदेश है, वहां उसके अनुयायी तनिक भौतिक अभिसिद्धिकी लालसाओंकी पूर्तिके लिए देवता और देवीके नाम पर लड़खड़ाते रहे, क्या यह उसके अनुकूल है ? विवाह हुआ और सारे देवी-देवताओंके द्वार खड़खड़ाये जाते है। कोई कुछ गड़वड़ हुई कि झट 'सीरणी' वोली जाती है। 'सीरणी' का प्रयोग तो इतना साधारण है कि मानो यह तो हर एक की वीमारीकी अचूक दवा है। कहां तो जैन-दर्शनका आत्म-विश्वास और कहा ये डाँवाडोल करने वाली क्रियाएँ। जरा जैन-शास्त्रों पर दृष्टि डालिये। जैन गृहस्थोंका वर्णन करते हुए लिखा है कि निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा रखनेवाले गृहस्थोंको देवता भी धर्मसे विचलित नहीं कर सकते थे और वे देवताओंकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखते थे। जैन-संस्कृति जितेन्द्रिय पुरुषोंकी संस्कृति है। इसमें जितेन्द्रिय एवं वीतराग पुरुषोंकी प्रधानता रही है। अतः हर जगह उसका ध्यान जरूरी है। इसके अनुसार किसी चीजके प्रारम्भमें 'श्रीवीतरागाय नमः' 'ओं नमः सिद्धे भ्यः' 'ओं नमो जिनाय' लिखना तथा आपसी मिलनेमें 'जय जिनेन्द्र' कहना जैन-संस्कृतिका सूचक होता है।

अव कुछ मृतक क्रियाकी ओर भी दृष्टि डालिए—श्राद्ध करने का मतलव है—उसके द्वारा मृतकोंको शान्ति पहुंचाना। 'खायें कोई और ही और शान्ति किसीको मिले, यह वात कर्मवादके सिद्धान्त पर एक लाञ्छन है। मृत्युके समय म्रियमाण व्यक्ति असीम कष्टसे गुजरता है। उसे छूने मात्रसे अपार दु खानुभव

होता है। उस स्थितिमें उसे चारपाई या बिछौनेसे उठाकर नीचे रखनेकी चेष्टा करते है, क्या यह अनर्थ-हिंसा नहीं ?

अभ्यास

१—संस्कृतिका आधार क्या होता है ?

२—विचार और आचारकी दृष्टिसे जैनोंको कैसा होना चाहिए ?

३—आजकी स्थितिमें जैन-संस्कृति में कौन-कौन-सी बातें अन्य संस्कृतियोंकी हैं ?

४—'मृत आत्माको ईश्वर शान्ति प्रदान करे, क्या यह ठीक है ?

२०

अनाथोंके नाथ

नमिनाथ अनाथांरा नाथोरे, नित्य नमण करूं जोड़ी हाथो रे,
कर्म काटण वीर विख्यातो, प्रभु नमिनाथजी मुझ प्यारा रे ॥१
प्रभु ध्यान सुधारस ध्याया रे, पद केवल-जोड़ी पाया रे,
गुण उत्तम उत्तम आया, प्रभु नमिनाथजी मुझ प्यारा रे ॥२
प्रभु वागरी वाण विशालो रे, क्षीर-समुद्र थी अधिक रसालो रे,
जग तारक दीनदयालो, प्रभु नमिनाथजी मुझ प्यारा रे ॥३
थाप्या तीर्थ च्यार जिणंदो रे, मिथ्या तिमिर हरणने मुणिंदो रे,
त्यांने सेवे सुर नर वृन्दो, प्रभु नमिनाथजी मुझ प्यारा रे ॥४
सुर अनुत्तरविमाण ना सेवैरे, प्रश्न पूछ्यां उत्तर जिन देवैरे,
अवधि-ज्ञान करी जाण लेवे, प्रभु नमिनाथजी मुझ प्यारा रे ॥५
तिहां बेठा ते तुम ध्यान ध्यावेरे, तुम योग-मुद्रा चित्त चावै रे,
तेपिण आपरी भावना भावे, प्रभु नमिनाथजी मुझ प्यारा रे ॥६
उगणीस आसोज उदारो रे, कृष्ण चौथ गाया गुण सारो रे,
हुओ आनन्द हर्ष अपारो, प्रभु नमिनाथजी मुझ प्यारा रे ॥७

इस स्तवनमें भगवान् नमिनाथको अनाथोंके नाथ कहा गया है। नाथ वे ही हो सकते हैं, जो स्वयं भय-मुक्त हों एवं दूसरों को भयसे मुक्त कर सकें। भगवान् नमिनाथने कर्म-शत्रुओंका अन्त किया। राग-द्वेष पर विजय पाई। विशुद्धतम ध्यानके द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया और तीर्थचतुष्टयकी स्थापना की, जिनमें प्रत्येक व्यक्ति शरण पा सकता है, अपनी आत्माको सनाथ बना सकता है। अथवा योग-क्षेम कर नाथ कहलाता है। योग क्षेमकर वह हो सकता है, जो अप्राप्तकी प्राप्ति कराये और प्राप्तकी रक्षा करे।

भगवान् नमिनाथने अनेक जीवोंको ज्ञान-चारित्र आदि गुणों की प्राप्ति करवाई और उनकी रक्षाकी और क्या, अनुत्तरविमानके देव वहां बैठे बैठे भगवान्से प्रश्नकर लेते और भगवान् केवल-ज्ञान से उनके मनोगत भाव जानकर उत्तर दे देते और वे देव भगवान् के द्रव्य-मनके पुद्गलोंके सहारे उसे जान लेते। आज भी हम उनके पवित्र आदर्शोंको देखकर ज्ञान आदि गुण पा सकते हैं। इसलिए भगवान् नमिनाथ सच्चे अर्थमें अनाथोंके नाथ एवं अशरणोंके शरण हैं।

अभ्यास

१—नमिनाथ भगवान्को अनाथोंके नाथ क्यों कहा गया ?

२—इस गीतिकाके चौथे पद्यका तात्पर्य समझाओ।

३—योगक्षेमका क्या मतलब है ?

२१

लेश्या

मनुष्य जिन परिस्थितियोंमें—जिस वातावरणमें रहता है, उनका उस पर असर होता है, यह सर्वसम्मत है। विचारोंके अनुकूल वाह्य वातावरण वनता है या वाह्य वातावरणके अनुकूल विचार वनते हैं, यह एक समस्या है। जैन-दर्शन इसको अपेक्षा-वादसे सुलझाता है। आत्मीय विचार प्रवल होते हैं, वहां तो उनके अनुकूल वातावरण वनता है और जहां वातावरण प्रवल होता है—आत्मीय विचार दुर्वल होते हैं वहां उसके अनुकूल विचार वनते हैं।

इसका दार्शनिक तथ्य यह है कि मनुष्य जव सोचता है, तव उसे वहुतसे पुद्गल स्कन्धोंको ग्रहण करना पड़ता है। क्योंकि पौद्गलिक सहायताके विना विचारोंका परिवर्तन नहीं हो सकता। अच्छे पुद्गल अच्छे विचारोंके सहायक वनते हैं और वुरे पुद्गल वुरे विचारोंके। यह एक सामान्य नियम है। किसी क्षेत्रमें

ऐसे अनिष्ट पुद्‌गल होते हैं कि वे शुद्ध विचारोंको एकाएक बदल डालते हैं। जैन परिभाषामें आत्मीय विचारोंको भाव-लेश्या और उनके सहायक पुद्‌गलोंको द्रव्य-लेश्या कहते हैं। जैसा कि कहा है:—

"योगवर्गणान्तर्गतद्रव्यसाचिव्यादात्मपरिणामो लेश्या।"

विचारोंका वर्गीकरण कर उनको छव भागोंमें बांटा है। जैसे—"कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्लाः—"इनमें पहली तीन लेश्याएं अधर्म और अन्तिम तोन धर्म हैं। इनके पुद्‌गलोंके वर्ण गन्ध आदिके लिए यन्त्र देखना चाहिए।

मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रियाओंमें असंयम रखना, बिना सोचे समझे काम करना, क्रूर व्यवहार करना आदि कृष्ण-लेश्याके विचार हैं।

कपट करना, निर्लज्ज होना, स्वादलोलुप होना, पौद्‌गलिक-सुखोंकी खोज करना आदि नील-लेश्याके परिणाम हैं।

कार्य करनेमें एवं बोलनेमें वक्रता रखना, दूसरोंको कष्ट करने वाली भाषा बोलना आदि कापोत लेश्याके परिणाम हैं।

ममत्वसे दूर रहना, धर्म पर रुचि रखना आदि तेजोलेश्याके परिणाम हैं।

क्रोध न करना, मितभाषी होना, इन्द्रिय-विजय करना आदि पद्मलेश्याके परिणाम हैं।

राग-द्वेष-रहित होना, आत्मलीन होना आदि शुक्ल-लेश्याके परिणाम हैं।

लेश्या-यन्त्र

लेश्या	वर्ण	रस	गन्ध	स्पर्श
कृष्ण	काजल के समान काला	नीम से अनन्त गुण कटु	मृत सर्प की गन्ध से अनन्त गुण अनिष्ट गन्ध	गाय की जीभसे अनन्त गुण कर्कश
नील	नीलम के समान नीला	सौंठ से अनन्त गुण तीक्ष्ण		
कापोत	कबूतर के गले के समान रंग	कच्चे आम से अनन्त गुण तिक्त		
तेजः	हिंगुल सिंदूर के समान रक्त	पके आम से अनन्त गुण मधुर	सुरभि कुसुस की गन्ध से अनन्त गुण इष्ट गंध	नवनीत मक्खन से अनन्त गुण सुकुमार
पद्म	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्त गुण मिष्ट		
शुक्ल	शंखके समान सफेद	मिश्री से अनन्त गुण मिष्ट		

अभ्यास

१—विचारोंका परिवर्तन वातावरणसे क्यों सम्बन्धित है ?

२—कापोत-लेश्याके वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श कैसे होते हैं ?

३—पद्म-लेश्यासे मनुष्यकी मानसिक स्थितियां किस प्रकार की होती हैं ?

४—द्रव्य एवं भाव-लेश्यामें क्या अन्तर हैं ?

(२२)

नन्दन मणियारा

नन्दन मणियारा भगवान् महावीरका उपासक और राजगृह का एक धनी मानी सेठ था। भगवान्के सिद्धान्त पर उसकी श्रद्धा थी। दैववशात् कुछ समयके बाद उसके साधुओंका संपर्क कम हो गया। जैनेन्द्र-वाक्य सुननेका विशेष अवसर नहीं मिला। इसलिए उसकी श्रद्धामें कुछ अन्तर आ गया। फिर भी वह धार्मिक क्रियाओंका पूर्ववत् पालन करता रहा। एक वक्त उसने तीन दिनकी लगातार चौविहार (जिस तपस्यामें पानी भी न पिया जाय) तपस्या की। तीसरे दिनकी पिछली रातमें वह प्याससे व्याकुल हो उठा। थोड़ा-सा समय कटना भी मुश्किल हो गया। उसने सोचा—वे पुरुष धन्य हैं, जो बड़े तालाव, कुएं बावड़ी बनवाते हैं, जहा हजारों प्राणी अपनी प्यास शान्त करते हैं। प्याससे व्याकुल हुए प्राणियोंकी क्या दशा होती है, वह मैं इस वक्त जान रहा हूं। आज मैं सूर्योदय होते ही पौषध व्रत

पूरा कर महाराज श्रेणिकके पास जाऊंगा और राजाकी अनुमति पाकर शहरके बाहर एक विशाल पुष्करणी खनवाऊंगा।

सूरज उगते ही उसने पौषध पारा, भोजन किया और उसके बाद भेंट सजाकर राज-सभा में गया। राजाने उसकी इच्छानुसार राजगृह के ईशान-कोणमें विभार पर्वतकी तलहटीके पास पुष्करणीके लिये जगह दे दी। नन्दनने एक विशालकाय पुष्करणी करवाई। उसके चारों तरफ चार बाग और चार शालाएं बनवाईं।

अब जगह जगह उसकी प्रशंसा होने लगी। नन्दन खुदकी प्रशंसा सुनता और बड़ा खुश होता। वह प्रशंसा-प्रशंसामें इतना पागल बन गया कि आखिर जिन-धर्मसे भी हाथ धो बैठा। अब उसकी भगवान् महावीरके सिद्धान्तोंसे रुचि—आस्था हट गई। वह मोह-ममता एवं विषय-वासनाको ही सर्वस्व मानने लग गया।

इस बातको बहुत वर्ष हो चुके थे। एक दिन उसके शरीरमें अकस्मात् कुष्ट, भगन्दर, श्वास, कास आदि जीवन-संहारक अति भयंकर सोलह रोग एक साथ प्रकट हो गये। व्याधि-पीड़ित नन्दनने अपने सेवकोंको बुलाकर कहा—जाओ, नगरके प्रमुख २ केन्द्रों पर यह घोषणा करो कि नन्दनके शरीरमें एक साथ सोलह रोग पैदा हुए हैं। उनमेंसे कोई एक रोग भी मिटायेगा, उसे मनमाना धन दिया जायेगा।

यह घोषणा सुन-सुनकर अनेकों वैद्य आशाकी पुलें बांधते

हुए आए और उन असाध्य रोगोंके सामने हाथ झटकाकर वापिस चले गये। नन्दनके कष्टका अब पारावार न रहा। वैद्योंकी ओरसे वह निराश हो चुका था। वेदनासे समूचा शरीर एकाकार हो रहा था। मौत उसकी अधखुली आंखोंमें नाच रही थी कितनी भयानक थी वह वेला और वह दृश्य, तो भी उस पुष्करणी से उसकी मूर्च्छा नहीं हटी। वह उस बावड़ीके मोहमें मुरझाता ही रहा।

इस प्रकार आर्त्त-ध्यानमें उसने तिर्यञ्च-गतिका आयुष्य बांध लिया। वहासे काल कर उस पुष्करणीमें वह मेंढ़क हो गया। इधर-उधर फुदकते हुए मेंढ़कने नन्दन ही नन्दनकी प्रशंसा सुनी। उसने ऊहापोह किया और 'जातिस्मृति' ज्ञानके द्वारा उसे अपना पूर्वजन्म याद हो आया। अपने आप बोला—अरे वह नन्दन तो मैं ही था और मैंने कितना अनर्थ किया? मैं लौकिक कार्यको धर्म समझ बैठा। पुष्करणीमें मुग्ध हो गया। मैंने मूर्च्छाके सामने अपना धार्मिक सर्वस्व अर्पण कर डाला। मुझे पुष्करणी करवानी थी तो मैं बिना धर्म समझे ही कर्तव्यके नाते भी करवा सकता था, जैसे बड़े २ बहु भौमिक प्रासाद बनवाये थे। मुझे उसमें धर्म माननेकी क्या जरूरत थी और क्या जरूरत थी उसमें आसक्त होने की? अब क्या हो सके? जो बात बीत चुकी, वह तो बीत चुकी। अब मुझे सम्भलना चाहिए। वह सम्भल गया। बारह व्रत धारण किये। जीवन पर्यन्त वेले-वेले तपस्या करनेका अभिग्रह ले लिया और पारणेके दिन भी सचित्त चीज

खानेका त्याग कर लिया। इस प्रकार एक मेंढ़ककी जातिमें होता हुआ भी वह एक आदर्श मनुष्य जैसा जीवन बिताने लगा।

एक दिन मेंढ़क पुष्करणीके तीर पर बैठा था। उसके पाससे आदमियोंके समूहके समूह श्रमण भगवान् महावीरके आगमनकी बातें करते जा रहे थे। मेंढ़कने यह सुना और फूला न समाया। उसी वक्त पुष्करणीसे बाहर आया और उसी ओर चल पड़ा। दिलमें प्रबल अभिलाषा थी, तीव्र उत्कण्ठा थी। बेचारा कूद-फांद करता करता जा रहा था। इतनेमें राजा श्रेणिककी सवारी आई और एक उछलते हुए चपल घोड़ेने उस बेचारे दर्शनोत्सुक मेंढ़कको चूर-चूर कर डाला। कौन बेचारे मूक जीवोंकी दशा पर निगाह डाले? आखिर होना क्या था? उसकी आशाकी बांध वहीं टूट पड़ी। वह घायल हो गया और आगे न जासका। झट वह एक मुड़ा। एकान्तमें जाकर अरिहंत, सिद्ध और धर्माचार्योंको नमोत्थुणं किया। अपने दोषोंकी आलोचनाकी और आमरण अनशन कर लिया।

उस आहत मेंढकने इस प्रकार महामानवोचित क्रियाओंके द्वारा अपनी जीवन-यात्रा समाप्त की और उसने सौधर्म देवलोकके दर्दुर नामक विमानमें देवताका जन्म पाया।

अभ्यास

१—नन्दनकी जैन-धर्मसे अरुचि क्यों हुई?
२—अपनी बनाई पुष्करणीमें उसके उत्पन्न होनेका क्या कारण था?
३—मेंढ़क-भवमें उसे अपनी पिछली स्थितिका ज्ञान कैसे हुआ?
४—उसकी मृत्यु कैसे और किस अवस्थामें हुई?

२२

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—यह लोक—जगत् कब बना और किसने बनाया ?

उत्तर—अनादि है, अनादि पदार्थ अकृत्रिम होता है—उसका कोई कर्ता नहीं होता।

प्रश्न—यदि यह जगत् अनादि है तो इसे सृष्टि क्यों कहा जाता है ? क्योंकि सृष्टिका अर्थ होता है रचना और रचना उसे कहते हैं जो किसीकी बनाई हुई चीज हो।

उत्तर—पहली बात तो यह है कि जैन-दर्शन जगत्को सृष्टि नहीं कहता। जगत्को सृष्टि वे लोग कहते हैं जो इसको किसी सर्व-शक्तिमान्के द्वारा रचा हुआ मानते हैं। दूसरी बात यदि जैन भी अपेक्षावादके आधार पर इसका प्रयोग करें तो कोई आपत्ति नहीं। जैसे यह जगत् स्वरूपसे अनादि है, किन्तु इसमें काल, स्वभाव, उद्योगके द्वारा जड़ एवं चेतन पदार्थोंमें जो परिवर्तन, संघटन-विघटन होता रहता है,

वह सृष्टि है—चेतन एवं अचेतन पदार्थोंकी रचना है। अतः परिवर्तनकी अपेक्षा जगत्‌को सृष्टि कहा जा सकता है।

प्रश्न—यदि जगत्‌का कोई उत्पादक माना जाय तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—इसके बारेमें यह शंका होती है कि सृष्टिकर्ता कब उत्पन्न हुआ ? यदि वह सादि है तो क्या अपने आप उत्पन्न हो गया या किसी अन्य कारणसे उत्पन्न हुआ ? यदि सृष्टि-कर्ता अपने आप उत्पन्न हो सकता है, तब जगत् अपने आप क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता और यदि जगत्‌कर्ताको उत्पन्न होनेमें किसी अन्य कारणकी आवश्यकता हुई तो वह कारण क्या था और वह कैसे उत्पन्न हुआ था ? अपने आप या किसी अन्य कारणसे ? इस प्रकार न तो इस प्रश्नका अन्त होगा और न उस जगत्-कर्त्ताकी उत्पत्ति का समय भी निकल सकेगा। अतः उसे सादि मानना तो अयुक्त है और यदि जगत्‌कर्ता अनादि है तब फिर जगत्‌को अनादि माननेमें कौन-सी बाधा है ?

प्रश्न—इस जगत्‌का अन्त कब होगा ?

उत्तर—कभी नहीं—अनन्त है।

प्रश्न—जगत् अनादि, अनन्त है, तब फिर ईश्वरकी कोई आव-श्यकता ही नहीं ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—क्या जैन दर्शन ईश्वरको नहीं मानता ?

उत्तर—मानता हूं।

प्रश्न—किस लिए?

उत्तर—वस्तु-स्थितिका निरूपण करनेके लिए।

प्रश्न—तो वह कौन है?

उत्तर—कर्म-मल-रहित मुक्त-आत्माएं। जो आत्माएं तपस्या एवं संयमसे कर्म-मलका विशोधन कर आत्म-स्वरूपको प्राप्त हो जाती हैं, उनको ईश्वर, परमात्मा, सिद्ध, मुक्त कहते हैं।

प्रश्न—तो क्या ईश्वर अनेक हैं?

उत्तर—अनन्त हैं।

प्रश्न—वे कहां हैं?

उत्तर—ऊर्ध्व-लोकके अग्रभाग पर हैं।

प्रश्न—उसके आगे क्यों नहीं जाते?

उत्तर—उससे आगे अलोक है। अलोकमें धर्मास्तिकाय नहीं होती, अतः वहां कोई भी नहीं जा सकता।

प्रश्न—क्या वे कभी इस लोकमें भी आते हैं?

उत्तर—नहीं। क्योंकि वे आत्माएं कर्म-मल धुल जानेसे इतनी हल्की हो जाती हैं कि फिर वापिस नीचे आ नहीं सकती।

प्रश्न—वहां ठहरी हुई मुक्त आत्माएं क्या करती है?

उत्तर—आत्म-स्वरूपका अनुभव करती है।

प्रश्न—क्या प्राणियोंको शुभाशुभ कर्मोंका फलोपभोग नहीं करवातीं?

उत्तर—नहीं ।

प्रश्न—तो फिर जड़-कर्म कैसे जीवोंको यथोचित फल दे सकेंगे ? और क्यों प्राणी भी अपने अशुभ कर्मोका फल भोगनेको तैयार होंगे ?

उत्तर—कर्म-पुद्गलोंका आत्माके साथ सम्बन्ध होनेसे उनमें एक शक्ति पैदा होती है और जब वह परिपक्व हो जाती है, तब जिस प्रकार पथ्याहार एवं विषका या मदिराका असर होता है, वैसे ही जीवोंकी बुद्धि भी कर्मानुसार हो जाती है और वे उनका अच्छा या बुरा फल भोग लेते हैं। क्लोरोफर्म आदि स्थूल पौद्गलिक वस्तुओंमें भी आत्माको मूर्छित करनेकी शक्ति रहती है, तब अतिसूक्ष्म कर्माणुओंमें आत्माको मोह व्याकुल बनानेकी क्षमता हो, इसमें क्या आश्चर्य है ।

प्रश्न—आत्माके साथ कर्मका सम्बन्ध कब हुआ ?

उत्तर—यह सम्बन्ध अनादि-कालीन है ।

प्रश्न—तब आत्मा मुक्त कैसे होगी ? क्योंकि जो अनादि होती है उसका अन्त नहीं होता ?

उत्तर—आत्माके साथ कर्मका सम्बन्ध प्रवाहरूपसे अनादि है, व्यक्ति रूपसे नहीं अर्थात् एक कर्म आत्माके साथ निरन्तर चिपका हुआ नहीं रहता किन्तु मर्यादित समय तक ही रह सकता है । अतः आगामी कर्मद्वारका सर्वथा निरोधन कर, पूर्व कर्मकी अवधि पूर्ण होनेपर आत्मा मुक्त हो जाती है।

अभ्यास

१—इस लोकका कोई कर्ता नहीं, यह ठीक-ठीक समझाओ।

२—संसारकी आदि क्यों नहीं ?

३—जड़ कर्म चेतन आत्माको फलोपभोग कैसे करवाते हैं ?

४—मुक्त आत्माएं सिद्धालयमें क्या करती हैं ?

५—आत्मा पर कर्म अनादि कालसे लगे हुए हैं तो आत्माका उनसे छुटकारा कैसे होगा ?

२४

सुभाषित

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भइ।
थंभा कोहा पमाएण, रोगेणा लस्सएण य॥ १॥

जिन पांच कारणोंसे शिष्य शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता, वे कारण ये हैं—अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य।

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीलेति वुच्चइ।
अहस्सिरे सपादंते, नय मम्म मुदाहरे॥ २॥
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलेति वुच्चइ॥ ३॥

जो शिष्य निम्न आठ गुणोंसे युक्त होता है, वही शिक्षा पानेके योग्य है—१ शिक्षाशील शिष्य कभी उपहास न करे, २ इन्द्रिय एवं मनका निग्रह करे—क्योंकि अध्ययन-कालमें इन्द्रियदमन—ब्रह्मचर्य प्रत्येक विद्यार्थीके लिए नितान्त आवश्यक होता है, ३ छिद्रान्वेषण न करे—किसीके मर्मको प्रकाशित न करे—जो

विद्यार्थी दूसरेको मर्मभेदी वचन कहे या चुभनेवाली बात कहे, वह शिक्षाका अपात्र होता है, ४ अपने आचारका विशुद्धरीत्या पालन करे—सदाचारी रहे, ५ आचारको अंशरूपसे भी खंडित न करे—दोष सेवन न करे, ६ रस-लोलुप न बने—स्वादके लिए या कामवासनाकी तृप्तिके लिए वस्तुओंका भोगोपभोग न करे—आसक्ति न रक्खे, ७ क्रोध न करे—प्रत्येक समय सहिष्णुता रक्खे, ८ सत्यका अन्वेषण करता रहे—सत्यका आचरण करता रहे। संक्षेपमें यों कहा जा सकता है कि जिनमे शान्ति, इन्द्रिय-दमन, स्वदोषदृष्टि, सदाचार, ब्रह्मचर्य, अनाशक्ति, सहिष्णुता एवं सत्याग्रह ये आठ गुण होते है, वे ही सही अर्थमें विद्यार्थी होते हैं।

जे यावि होइ निविज्जे, थद्धे, लुद्धे अणिग्गहे।
अभिक्खणं उल्लवइ, अविणीए अवहुस्सुए ॥ ४ ॥

जो कोई विद्या रहित अथवा विद्या सहित है, किन्तु अहंकारी है, लोभी है—विपय-भोगोंमें आसक्त है, इन्द्रिय एवं मनके अधीन है—अजितेन्द्रिय है, वार-वार बिना प्रयोजन—बिना सोचे-समझे वोलता है—पूर्वापर असम्वद्ध बोलता है और विनयहीन है, वह अवहुश्रुत है—अज्ञानी है।

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा, खंति सेविज्ज पंडिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गि, हासं कीडं च वज्जए ॥ ५ ॥

विनयी शिष्य गुरुजनोंके अनुशासन—शिक्षासे क्रुद्ध न होवे किन्तु क्षमा रक्खे—उदारता रक्खे—अनुशासनको अपने हितका साधन समझे, नीच वृत्तिवाले मनुष्योंकी संगति न करे एवं हँसी-

मजाक तथा खेल-कूदसे अपना चित्त हटा ले। सदा शान्त, दान्त, सहिष्णु, गम्भीर एवं निर्विकार रहे।

अभ्यास

१—विद्यार्थीमें कौनसे पांच अवगुण नहीं होने चाहिए ?

२—शिक्षाशीलके कौनसे लक्षण हैं ?

३—बहुश्रुतमें कौन-कौनसे गुण चाहिए ?

२५

शरीर

आत्मा रूप रहित है। उनको हम देख नहीं सकते। पर संसारी आत्माएं किसी दृष्टिकोणसे रूपयुक्त भी मानी जाती है। इसलिये वे हमारे प्रत्यक्ष भी हैं। संसारकी समस्त आत्माओंके शरीर होता है। शरीरको हम देखते है, तब आत्माका हमें अपने आप बोध हो आता है।

आत्मा स्वयं शरीरका निर्माण कर उसको अपनी समस्त जीवन-क्रियाका साधन बनाती हैं। अतः उसके चले जानेके बाद उन क्रियाओंका नाश हो जाता है। यह निश्चय है कि शरीर आत्माओंसे सर्वथा पृथक् हैं। आत्माएं ज्ञानमय है और वे (शरीर) ज्ञान-शून्य है—पौद्गलिक है। आत्माको पौद्गलिक सुख-दुःखका जितना भी अनुभव होता है, वह सब शरीरके द्वारा ही होता है। इसलिए शरीरकी परिभाषा भी इस प्रकार की जाती है—'पौद्गलिकसुखदुःखानुभवसाधनं शरीरम्'।

शरीर पांच प्रकारके होते हैं—'औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजस-कार्मणानि'—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।

जिस शरीरका छेदन-भेदन हो सके एवं जिसमें हाड़, मांस, रक्त, मज्जा आदि होते हैं और जो मृत्युके पश्चात् भी टिक सकता है, वह शरीर औदारिक है। मनुष्य और तिर्यञ्चोंके औदारिक शरीर होता है।

जो शरीर छोटा, बड़ा, सूक्ष्म, स्थूल आदि इच्छानुकूल रूप बना सके, वह वैक्रिय है। वैक्रियका अर्थ है विविध प्रकारकी क्रियाएं करनेवाला। देवताओं एवं नारकोंके वैक्रिय शरीर होता है।

आहारक शरीर योग-शक्तिजन्य होता है। यह केवल चतुर्दशपूर्वधारी* योगियोंके ही होता है। इसका निर्माण योगी-जन कचित् खास प्रसङ्गमें ही करते हैं।

भोजनको पचानेवाला एवं तेजोमय और दीप्तिमय शरीर तैजस कहलाता है। इसे वैद्युतिक शरीर भी कहते हैं

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंके पुद्गल समूहसे जो शरीर बनता है, वह कार्मण है।

इनमें तैजस और कार्मण ये दो शरीर प्रत्येक संसारी आत्मा के हर समय विद्यमान रहते हैं। औदारिक और वैक्रिय जन्म-सिद्ध होते हैं। आहारक योग-शक्तिसे प्राप्त होता है। प्रवाहरूप में आत्मा और शरीरका सम्बन्ध अनादि है। व्यक्तिरूपसे एक

* एक प्रकारके विशिष्ट ज्ञानी।

शरीरके साथ आत्माके सम्बन्ध होनेको जन्म और वियोग होने को मृत्यु कहते है।

अभ्यास

१—शरीर कितने प्रकारके होते है ?

२—संसारी आत्माको सशरीरी क्यों माना जाता है ?

३—औदारिक शरीर किसे कहते हैं ?

४—देवता अपने रूपको नाना रूपमे कैसे बदल सकते है ?

(२६)

योग

मनोवाक्कायव्यापारो योगः ।

शरीर, वचन एवं मनको सञ्चालित करनेवाले आत्म-प्रयत्नको योग कहते हैं। आत्म-प्रयत्न अपना सञ्चालन कार्य पौद्गलिक शक्तिकी सहायतासे करता है, इसलिए वह पौद्गलिक शक्ति भी योग कहलाती है। जैन-परिभाषामें इनको क्रमसे भावयोग एवं द्रव्ययोग कहते हैं। इन दोनों योगोंके बिना शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक कोई भी क्रिया नहीं हो सकती।

शरीरको प्रवृत्त करनेवाला आत्माका प्रयत्न शरीर-योग है। जिस समय जिस शरीरकी प्रवृत्ति होती है, उस वक्त वही शरीर योग कहलाता है। जैसे औदारिक-शरीर-योग एवं कार्मण-शरीर योग।

एक शरीर-योगसे दूसरे शरीर-योगमें परिवर्तित होनेके समय दो योगोंका मिश्रण होता है, वहां जिस शरीर योगकी प्रधानता

रहती है, वह शरीर-योग मिश्र कहलाता है। जैसे—औदारिक-मिश्र, वैक्रिय-मिश्र एवं आहारक-मिश्र।

औदारिक-मिश्र - (१) मनुष्य एवं तिर्यञ्च गतिमें उत्पन्न होने के समय कार्मण-योगके साथ, (२) वैक्रियलब्धि-शक्तिवाले मनुष्य एवं तिर्यञ्चोंके वैक्रिय-शरीर बनानेके समय उसके (वैक्रियशरीरके) साथ, (३) आहारक शरीरके साथ और ४ केवलि समुद्घातके समय कार्मणके साथ औदारिक मिश्र होता है।

वैक्रिय-मिश्र—(१) देव और नरक गतिमें उत्पन्न होनेके समय कार्मण-योगके साथ और (२) मनुष्य एवं तिर्यञ्चोंके वैक्रिय शरीर समेटते समय औदारिकके साथ वैक्रिय-मिश्र होता है।

आहारक-मिश्र—आहारक-शरीर जव पुनः औदारिक शरीरमें प्रवेश करता है, तव उसके साथ आहारक-मिश्र होता है।

भापाको प्रवृत्त करनेवाला आत्माका प्रयत्न वचन-योग है। वह चार प्रकार है। १—सत्य-वचन-योग, २—असत्य वचन-योग, ३—मिश्र-वचन-योग, ४—व्यवहार - वचन-योग। इन चारोंका अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—१—सत्य वोलना, २—असत्य वोलना, ३—कुछ सत्य और कुछ असत्य मिश्रित वोलना, ४—और न सत्य न असत्य वोलना—आदेश उपदेश देना।

मनको प्रवृत्त करनेवाला आत्माका प्रयत्न मनोयोग है। वह चार प्रकारका है—सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, मिश्रमनोयोग एवं व्यवहारमनोयोग। सत्यविपयक चिन्तन करना, असत्य विपयक चिन्तन करना, कुछ सत्य एवं कुछ असत्य विपयक

चिन्तन करना, एवं न सत्य न असत्य विषयक चिन्तन करना -- आदेश उपदेश देनेका विचार करना क्रमशः चार मनोयोग हैं।

इन तीनोंके भेदोंको जोड़नेसे योग पन्द्रह हो जाते हैं।

(योग—शरीर, वचन, एवं मनकी रागद्वेष रहित प्रवृत्तिसे निर्जरा—आत्म-उज्ज्वलता होती है और राग-द्वेष युक्त प्रवृत्तिसे कर्म बन्ध होता है।)

अभ्यास

१—योगकी व्याख्या क्या है ?

२—औदारिक-मिश्र-योग कब व कैसे होता है ?

३—असत्य बोलना काय-योग है या वचन-योग ?

असीम उपकार

स्थानाङ्गमें भगवान् महावीरने फरमाया है—तीन कोटिके व्यक्तियोंका इतना उपकार होता है कि उसकी जिस तिस प्रति-सेवासे कीमत नहीं चुकाई जा सकती। उनमेंसे पहले माता-पिता दूसरे भर्ता और तीसरे धर्माचार्य हैं।

शिष्यने पूछा भगवन्! एक पुत्र पौ फटते ही हमेशा मां-बाप के बढ़िया बढ़िया तैलोंका अभ्यङ्गन करता है, सुगन्धित जलसे नहलाता है, वस्त्राभूषणोंसे उन्हें सजाता है, अच्छे अच्छे भोजन परोसता है और जीवन-पर्यन्त पृष्ठ—अवतंसिका (कावड़) में उठाये फिरता है, क्या वह ऐसी सेवा करनेवाला मां-बापसे उऋण हो सकता है?

भगवान्—नहीं।

शिष्य—भगवन्! एक पुरुष अपने उपकारी भर्ता (स्वामी) को, जिसके प्रतापसे वह दौलता बना हो, वह (भर्ता) कभी

गहरी आपत्तिमें फंस जाय, धन दौलत खो बैठे, ऐसी हालतमें वह पुरुष अपना सर्वस्व अर्पित कर दे, क्या वह ऐसा करनेसे स्वामीसे उऋण हो सकता है ?

भगवान्—नहीं।

शिष्य—भगवन्! एक मनुष्य जिसे धर्माचार्यके द्वारा ज्ञान, दर्शन, चारित्रका लाभ मिला और यावत् वह देवता बन गया; वह अपने धर्माचार्यको दुर्भिक्षसे सुभिक्षमें रख दे, रोग मुक्त कर दे, क्या वह ऐसा करनेवाला धर्माचार्यसे उऋण हो सकता है ?

भगवान्—नहीं।

शिष्य—तो भगवन्! क्या माता, पिता, भर्ता और धर्माचार्यका ऋण चुकानेका कोई रास्ता ही नहीं ?

भगवान्—हां, है। पुत्र और सेवक अगर माता-पिता एवं भर्ताको केवलि-भाषित धर्म सुनावे, समझावे और उनको उसमें स्थापित करे और शिष्य धर्माचार्यको जो केवलि-भाषित धर्मसे विचलित होते हों अथवा होगये हों, पुनः धर्ममें स्थापित करे तो वह उनसे उऋण हो सकते हैं। इसमें एक खास बात गौर करने की है कि माता-पिता और भर्ताका ऋण शारीरिक होता है और धर्माचार्यका ऋण आत्मिक। इसीलिए गुरुके उपकारका बदला चुकाना सबसे अधिक दुष्कर है। जैसेः—

* दुष्प्रतिकारौ माता-पितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन्।

---

* स्थानाङ्गवृत्ति

तत्र गुरुरिहामुत्र, च सुदुष्करप्रतीकारः ॥

अर्थात् माता-पिता, स्वामी और गुरुके उपकारसे उऋण होना दुष्कर है, उनमें भी गुरुके उपकारसे उऋण होना जन्म-जन्मान्तर मे भी महा दुर्लभ है ।

अभ्यास

१—माता-पिताका ऋण कैसे चुकाया जाता है ?

२—यह दृष्टान्त किस सूत्रसे उद्धृत किया गया है ?

३—क्या माता-पिताको अच्छे अच्छे भोजन परोसने पर भी उनसे उऋण नहीं बना जा सकता ?

(२८)

दयाके दो प्रकार

धार्मिक जगत् दयाके विषयमें जितना भ्रान्त है, सम्भवतः अन्य किसी भी विषयमें उतना भ्रान्त नहीं है। धर्म पर विश्वास न करनेवालोंके लिए तो दया एकमात्र सामाजिक या राष्ट्रीय व्यवस्था है किन्तु जो धर्म-श्रद्धालु हैं, उनकी दृष्टिमें दया आत्म-साधनाका अंग है।

राग-द्वेष-स्वार्थ-मोहरूप क्रिया अहिंसात्मक नहीं होती और जो अहिंसात्मक नहीं होती, वह दया भी नहीं होती। इसी सिद्धान्तको ध्यानमें रखकर आचार्य भिक्षुने "दया दो प्रकारकी है—व्यावहारिक, पारमार्थिक" इस पर जोर दिया। सामाजिक सम्बन्धों या नागरिक कर्तव्योंके निर्वाहके लिए व्यावहारिक दया है और आत्मकल्याणके लिए पारमार्थिक। नाम एक होनेसे दोनोंका स्वरूप एक नहीं होता। 'गाय भैंस आक थोहरनो' ए चारों ही दूध" अर्थात् गाय एवं भैंसका दूध भी दूध कहलाता है

आक एवं थोहरका दूध भी दूध। ऐसे ही व्यावहारिक दया भी दया कहलाती है और पारमार्थिक दया भी दया। किन्तु उनके स्वरूपमें उतना ही भेद है, जितना गाय और आकके दूधमें होता है।

इस सिद्धान्तका लोगोंने प्रबल विरोध किया। आचार्य भिक्षु को दयाके उत्थापक कहकर पुकारा। इसकी प्रतिक्रियाके रूपमें चूहे-बिल्ली, जलता हुआ गायोंका बाड़ा, छतसे गिरता हुआ बालक आदि लोकभ्रामक प्रश्नोंका निर्माण किया गया।

अस्तु आचार्य भिक्षुका दृष्टिकोण इस विषयमे स्पष्ट है। उन्होंने वस्तुस्थिति स्पष्ट करनेके लिए दयाके स्वरूपका पृथक् २ प्रतिपादन किया। अतः उनपर दयाधर्मके उठाने एवं दयाके दो भेदोंकी स्थापना करनेका आरोप नहीं लगाया जा सकता। आचार्य भिक्षुने दयाकी विविधता वाले शास्त्रीय अंशका प्रकाशन किया है न कि दयाकी द्विविधताका संस्थापन।

"द्वौ हि धर्मौ गृहस्थाना, लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः, परः स्याद्वादमाश्रितः॥

अर्थात् गृहस्थोंके धर्म दो है—लौकिक और पारलौकिक। पहलेका आश्रय लोक-व्यवहार है और दूसरेका वीतरागका उपदेश।" सोमदेव सूरिके उक्त विचारों और आचार्य भिक्षुके विचारोंमें कोई अन्तर नहीं है।

इस सिद्धान्तके विरोधमें अन्तिम तर्क यही होता है कि व्यावहारिक दया आत्म-साधना नहीं, तब जैन गृहस्थ उसका

पालन कैसे करेंगे ? सोमदेव सूरिने इसका बड़े सुन्दर शब्दोंमें समाधान किया है—

सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम् ॥

अर्थात् जैन-गृहस्थ उस सब लौकिक विधिको मानते हैं, जिसमें सम्यक्त्वकी हानि न हो और व्रतमें दोष न आवे।

अभ्यास

१—राष्ट्रहितार्थ की जानेवाली हिंसा आत्म-कल्याणमें सहायक है या नहीं ?

२—आचार्य भिक्षु दयाके उत्थापक क्यों कहे गये ?

३—आचार्य भिक्षुका दृष्टिकोण किन प्राचीन आचार्योंसे मिलता है ?

२९

जैन-साहित्य

जैन-साहित्य दो भागोंमें बंटा हुआ है—जैन आगम एवं ग्रन्थ। भगवान् महावीरके सिद्धान्त जो उनके प्रमुख शिष्य गणधरों द्वारा गुम्फित किये गये, वे आगम कहलाते हैं। जैसे कहा है—"आगमः गणधरादिविरचिते द्वादशाङ्गादिरूपे सिद्धान्ते" अर्थात् गणधर आदिके रचे हुए द्वादशाङ्ग आदि सिद्धान्त हैं, वे आगम कहलाते हैं।

आगमके दो विभाग किये जाते हैं—सूत्र-आगम और अर्थ-आगम। भगवान् महावीरने अर्थरूप आगमका उपदेश किया था और गौतम आदि ११ गणधरोंने उसका सूत्ररूपमें संकलन किया था। जैसे कहा भी है—"अत्थं भासइ अरहो, सुत्तं गुत्थंति गणहरा निउण।"

वक्ता एवं श्रोता तथा रचयिता एवं अध्येताकी अपेक्षासे आगम तीन प्रकारके भी होते हैं—आत्मागम, अनन्तरागम और

परम्परागम। किसी दूसरेके उपदेश बिना जो आगम अपने आप उपलब्ध होता है, वह आत्म-आगम कहलाता है। जैसे अर्थरूप आगम भगवान् महावीरके आत्म-आगम हैं—उन्होंने किसीका उपदेश पाये बिना अपनी केवल-ज्ञान-शक्तिसे जानकर उपदेश किया था। सूत्ररूप आगम गणधरोंके लिए आत्म-आगम थे। क्योंकि उन सिद्धान्तोके पहले संकलयिता वे ही थे। आगम रचयिताओंके द्वारा जिन्हें सर्वप्रथम आगम-उपदेश मिला था, उनका आगम अनन्तरागम और तत्पश्चात् जिन्हें आगम-शिक्षा मिलती है, उनके वह परम्परागम है। आगम-साहित्यके दो विभाग हैं—अङ्ग और अङ्ग बाह्य। गणधरोंके रचे हुए शास्त्र अङ्ग कहलाते हैं और उनके आधार पर अन्यान्य बहुश्रुत - विशाल ज्ञानी पूर्वधराचार्योंके रचे शास्त्र अङ्ग बाह्य—उपाङ्ग, मूल, छेद आदि कहलाते हैं।

अङ्ग बारह हैं—१ आचाराङ्ग, २ सूत्रकृताङ्ग, ३ स्थानाङ्ग, ४ समवायाङ्ग, ५ भगवती—विवाह-प्रज्ञप्ति या व्याख्या-प्रज्ञप्ति, ६ ज्ञाता-धर्मकथा, ७ उपासकदशा, ८ अन्तकृद्दशा, ९ अनुत्तरोपपातिकदशा, १० प्रश्नव्याकरण, ११ विपाकश्रुत और १२ दृष्टिवाद। इनको द्वादशाङ्गी एवं गणि-पिटका भी कहते हैं।

उपाङ्ग १२ हैं—

१ औपपातिक, २ राजप्रश्नीय, ३ जीवाभिगम, ४ प्रज्ञापना, ५ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ६ चन्द्रप्रज्ञप्ति, ७ सूर्यप्रज्ञप्ति ८ निरयावलिका, ९ कल्पवतंसिका, १० पुष्पिका, ११ पुष्पचूलिका और १२ वृष्णि-

दशा। ये बारह उपाङ्ग भिन्न भिन्न आचार्योंके रचे हुए हैं।

मूल चार हैं—

१ दशवैकालिक, २ उत्तराध्ययन, ३ अनुयोगद्वार और ४ नन्दी।

छेद ४ हैं—

१ निशीथ, २ व्यवहार, बृहत्कल्प और ४ दशाश्रुत-स्कन्ध।

आवश्यक १ है—

१ प्रतिक्रमणसूत्र। ये सब बत्तीस हैं।

इन सूत्रोंके चार विभाग हैं—

१ द्रव्यानुयोग (द्रव्यशास्त्र तथा भौतिक शास्त्र—भगवती जीवाभिगम आदि) २ चरणकरणानुयोग (आचारशास्त्र—आचाराङ्गादि) ३ गणितानुयोग (गणितशास्त्र—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि) ४ धर्मकथानुयोग (धर्म-कथा—ज्ञाता आदि)।

दशपूर्वधर तकके आचार्योंके अतिरिक्त अन्य आचार्य, विद्वान् मुनि एवं गृहस्थोंने जो साहित्य-रचनाकी है, वह सब ग्रन्थकी कोटिमें आ जाती है। जैनोंका ग्रन्थ-साहित्य बहुत विशाल है। जैन विद्वानोंने दार्शनिक, नैतिक, इतिहास, पुराण, कथा, व्याख्यान स्तोत्र, काव्य, नाटक, चम्पू, छन्द, अलंकार, कोश, व्याकरण, ज्योतिष, गणित, राजनीति, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, आयुर्वेद, वनस्पति-विज्ञान, पक्षिविद्या, वास्तुकला, चित्रकला, शिल्पकला, संगीतकला आदि प्रायः व्यावहारिक विषयों पर अपनी लेखनीका मुंह खोला है।

भाषा—

जैन-आगमोंकी भाषा अर्धमागधी—जैन महाराष्ट्री प्राकृत है। भगवान् महावीरके समय यह लोकभाषा थी। इसीलिए सर्व-साधारणका हित ध्यानमें रखते हुए भगवान्‌ने इसी भाषामें उपदेश किया था। जैसे कहा भी है—

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां, नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहाय तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥१॥

अर्थात् बालक, स्त्री, मन्दबुद्धि आदिके हितार्थ प्राकृत भाषामें सिद्धान्त रचे गये। आगमोंके अतिरिक्त प्राक्तन ग्रन्थ-साहित्य भी प्राकृतमें है। संस्कृत भाषामें जैन-साहित्य-निर्माण प्रायः विक्रमकी पहली शताब्दीके आसपास प्रारम्भ हुआ था।

भगवान् महावीरके ११ गणधर साधु संघके प्रमुख संचालक थे, उनकी नव वाचनाएं थीं। कारण कि आठवें, नौवें एवं दशवें ग्यारहवें इन दो दो गणधरोंकी शास्त्र-रचनाएं मिलती जुलती थीं सुधर्मा स्वामीके सिवाय शेष अन्य गणधरोंकी शिष्य-परम्पराएं ज्यों ज्यों लुप्त होती गईं त्यों त्यों उनकी वाचनाएं भी लुप्त होती गईं और रही सही सुधर्मास्वामीकी वाचनाके अन्तर्गत हो गईं। वर्तमानमें जो आगम हैं, वह सुधर्मा स्वामीकी ही वाचना है।

आगम और प्रमाण

आगम-साहित्यमें द्वादशाङ्गी प्रमाणभूत है। इसके सिवाय अन्य आगम वे ही प्रमाण माने जा सकते हैं, जो इससे प्रतिकूल न हों। उपाङ्ग, मूल, छेद आदि बत्तीस आगम इसीलिए प्रमाण

है कि वे द्वादशाङ्गीके उपजीवी है। इस समय बारहवा अङ्ग दृष्टिवाद अप्राप्य है। एक उपाङ्ग चन्द्रप्रज्ञप्ति भी अप्राप्य है। वर्तमानमे जो चन्द्रप्रज्ञप्ति एवं सूर्य-प्रज्ञप्ति दो गिने गये हैं, वे वस्तुतः एक है। शास्त्र दो जगहोंमें लिखे गये थे, इसलिये एक जगह उसका नाम चन्द्रप्रज्ञप्ति और दूसरी जगह सूर्यप्रज्ञप्ति दिया जाना सम्भव है।

आगम प्रमाण क्यों ?

द्वादशाङ्गी भगवान् महावीरके उपदेशोंका संग्रह है, इसलिए प्रमाण है। भगवान् महावीर वीतराग थे इसलिए उनके वचनोंमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। क्योंकि वीतराग असत्य नहीं बोलते।

रागाद्वा द्वेपाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोपा-स्तस्याऽनृतकारण किं स्यात् ॥१॥

अर्थात् असत्य वचन राग, द्वेप, मोह एवं अज्ञान आदि कारणोंसे बोला जाता है। जिनमे ये दोप नहीं होते, उनके असत्य वचनका कोई कारण नहीं होता अतएव उनके वचन अक्षरशः प्रामाणिक माने जाते हैं।

लिपिबद्ध-काल

भगवान् महावीरके पश्चात् सुधर्मा स्वामी एवं जम्बू स्वामी ये दो आचार्य तो केवल-ज्ञानी हुए। इनके बाद प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूतविजय, भद्रबाहु एवं स्थूलिभद्र ये ६ आचार्य श्रुत-केवली हुए। जिनके पास चौदह पूर्वोका ज्ञान होता है उन्हें श्रुत केवली कहते हैं। यह इतनी विशाल ज्ञान-राशि है कि इसे कोई

लिपिबद्ध नहीं कर सकता। केवल गुरु परम्परासे ही इसका अध्ययन किया जाता था। उस समय विद्याका प्रवाह कण्ठ करनेकी परम्परामें उपजीवित था।

महावीर-निर्वाणकी दूसरी शताब्दीमें अकाल पड़नेके कारण साधु-संघ बहुत छिन्न-भिन्न हुआ, जिससे कण्ठ करनेकी परम्परा को एक गहरी ठेस पहुंची। अकालके बाद स्थूलिभद्र स्वामीने पुनः संघको व्यवस्थित कर पुरातन पद्धति प्रस्तुत की। समय पाकर ज्यों-ज्यों संहननकी शिथिलता एवं बुद्धिकी अल्पता होती गई त्यों-त्यों ज्ञानकी विस्मृति होने लगी। तब वीर निर्वाणकी नवमी शताब्दी (वीर निर्वाण सं० ८२७ से सं० ८४० तक) में मथुरा में स्कन्दिलाचार्य और वल्लभीमें नागार्जुनके आधिपत्यमें उपदेशों का संग्रह किया गया व लिखवाया गया। वीरनिर्वाणकी दशवीं शताब्दीमें श्रुतधारी साधुओंका बहुत विच्छेद हुआ।

इस समय (वीर निर्वाण ६८० में) देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ने अवशिष्ट संघको वल्लभी नगरमें एकत्रित कर उक्त दोनों वाचनाओंकी समन्वय पूर्वक लिपि करवाई। वीर निर्वाणके एक हजार वर्षोंके बाद पूर्वोंका ज्ञान कतई विच्छिन्न हो गया।

अभ्यास

१—बारह अङ्ग कौनसे हैं?
२—जैन-साहित्य संस्कृतमें कबसे ग्रथित हुआ?
३—कौनसे आगम प्रमाण माने जाते हैं?
४—जैन-साहित्यके लिपिकालका क्रम बतलाओ।

उपयोग

उपयोग शब्दका अर्थ है काममें लाना। ज्ञान एवं दर्शनको काममें लानेका नाम उपयोग है। जानना आत्माका गुण है। वस्तुओंमें दो मुख्य धर्म होते हैं—एकाकारता और भिन्नाकारता। हम एकाकारतासे पदार्थोंको जानते हैं। उस ज्ञान-शक्तिको दर्शन या सामान्य बोध कहते हैं और भिन्नाकारतासे जाननेवाली ज्ञान-शक्तिको ज्ञान या साकार बोध कहते हैं। जैसे हम एक परिषद् या एक बागको देखते हैं, वह हमारा सामान्य बोध-दर्शन है और उसके बाद जब हम उनके भिन्न भिन्न व्यक्ति एवं वृक्षोंको जानते हैं, वह हमारा विशेष बोध—ज्ञान है। अथवा यों समझिये कि हमारे ज्ञानके मुख्य विषय दो हैं—सामान्य और विशेष। विशेष की उपेक्षा कर सामान्यका ज्ञान करना दर्शन है और सामान्यकी उपेक्षा कर विशेषका ज्ञान करना ज्ञान है।

दर्शन चार हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन और

केवलदर्शन। चक्षुके सामान्य-बोधको चक्षुदर्शन कहते हैं। चक्षु के सिवाय शेष इन्द्रिय एवं मनके सामन्य-बोधको अचक्षुदर्शन कहते हैं। मूर्त्त वस्तुओंका साक्षात्कारी सामन्य-बोध अवधिदर्शन और समस्त वस्तुओंका साक्षात्कारी सामान्य-बोध केवलदर्शन कहलाता है।

ज्ञान पांच प्रकारके है—मति, श्रुत, अवधि, मनः-पर्यय और केवल।

इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होनेवाला वर्तमान-कालवर्ती ज्ञान मतिज्ञान है।

मतिज्ञानके पश्चात् होनेवाला शब्दोल्लेखी एवं त्रिकालवर्ती ज्ञान श्रुत-ज्ञान है। शब्दोल्लेखीका अर्थ है जो ज्ञान शब्दोंमें उतारा जा सके। श्रुत-ज्ञान—द्रव्यश्रुत अर्थात् शब्दों एवं संकेतोंके सहारे होनेवाला ज्ञान है। श्रुत-ज्ञान मति-ज्ञानकी परिपक्व अवस्था है। शास्त्रोंमें शेष सब ज्ञानोंको मूक और श्रुतज्ञानको वक्ता कहा है। इसके सिवाय और सब ज्ञानोंके लिए उपयोगी होते हैं। श्रुत-ज्ञान स्व-पर दोनोंके लिये उपयोगी है। प्रश्न हो सकता है कि श्रुत्त-ज्ञान तो बोलता नहीं, इस दशामें वह दूसरोंके लिए कैसे उपयोगी हो सकता है और कैसे वक्ता हो सकता है। इसका समाधान यों करना चाहिए कि अभेदोपचारसे द्रव्यश्रुत, जो भाव-श्रुतका कारण है, को भावश्रुतसे अभिन्न मानकर श्रुत-ज्ञान को परोपयोगी और वक्ता कहा गया है। अन्यथा यह घटित ही कैसे हो सकता है। कारण कि ज्ञानका काम जानना है,

बोलना नहीं। शब्द बोले जाते है या लिखे जाते हैं, उनको द्रव्यश्रुत कहते है।

मूर्त्त वस्तुओंको साक्षात् जानने वाला ज्ञान अवधि-ज्ञान है। मानसिक अवस्थाओंको जाननेवाला ज्ञान मन.पर्याय-ज्ञान है। समस्त द्रव्य एवं पर्यायोंको जाननेवाला ज्ञान केवलज्ञान है।

वास्तवमे ज्ञान एक केवल-ज्ञान ही है। वह क्षायिक है, अर्थात ज्ञानावरणीय कर्मका पूर्ण क्षय होनेसे प्रकट होता है। मति-ज्ञान आदि तो उसीके अंश हैं। मति-ज्ञान आदि भेद तबतक रहते हैं, जबतक केवलज्ञान प्रकट नहीं हो जाता। मतिज्ञान आदि चारों क्षायोपशमिक हैं अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्मके अपूर्ण क्षयसे उत्पन्न होनेवाले हैं। क्षायिक ज्ञान मूर्त्त एवं अमूर्त्त दोनों प्रकार के पदार्थोंको जानता है और क्षायोपशमिक ज्ञान केवल मूर्त्त पदार्थोंको ही जान सकते हैं। हां, एक शंकाकी जा सकती है कि मन पर्यव-ज्ञान मनकी अवस्थाओंको जानता है और मानसिक अवस्थाएं अमूर्त्त हैं—अपौद्गलिक हैं, क्या वहां इस सिद्धांतका उल्लंघन नहीं होता? नहीं, मनःपर्याय ज्ञान पौद्गलिक मनके सहारे मानसिक अवस्थाओंका बोध करता है, साक्षात् नहीं। जब कोई समनस्क जीव चिन्तन करता है, तब उसे द्रव्य मनो-योग्य पुद्गल-वर्गणाएं (समूह) ग्रहण करनी पड़ती हैं और उन गृहीत पुद्गल-वर्गणाओंकी चिन्तनके अनुरूप ही आकृतियां बन जाती हैं। उन आकृतियोंको देखकर मनःपर्याय-ज्ञानी जान लेता है कि इसके मानसिक विचार अमुक-अमुक हैं। इस प्रकार

इसका विषय क्षायोपशमिककी सीमाको अतिक्रमण नहीं करता।

मिथ्यात्वियों—आत्मा आदि पदार्थों पर सत्य-विश्वास न रखनेवाले व्यक्तियोंका ज्ञान अज्ञान कहलाता है। इसलिए तीन अज्ञान कहे गये हैं। जैसे—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान एवं विभङ्ग-ज्ञान। मनःपर्याय एवं केवल उनमें नहीं होते इसलिए अज्ञान तीन ही हैं। इनका अर्थ मतिज्ञान आदिकी तरह ही समझना चाहिए। अवधिके स्थानमें विभङ्ग शब्दका प्रयोग किया गया है। इसलिए उसके साथ फिर अज्ञान शब्द जोड़की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि विभङ्ग शब्द स्वयं अज्ञानका सूचक हैं।

इन सबको मिलानेसे उपयोग १२ हो जाते हैं। उपयोग जीवका लक्षण है। इसके बिना कुछ भी नहीं जाना जाता। ज्ञान जाननेकी शक्ति है—योग्यता है। परन्तु उसकी प्रवृत्ति किये बिना बोध नहीं होता। इसलिए ज्ञानकी प्रवृत्ति यानी उपयोगका हमारे जीवनमें सर्वाधिक महत्त्व है।

अभ्यास

१—अनाकार उपयोग किसे कहते हैं।

२—श्रुत-ज्ञानका अर्थ समझाओ।

३—केवल-ज्ञानमें पांच ज्ञान कैसे समा जाते हैं?

४—मनःपर्याय ज्ञानके द्वारा मनः स्थितियां कैसे जानी जाती हैं?

(३१)

तेरापंथ गौरव

देख उपकार गुरु भेजेंगे हजार कोश,
रोष अफसोस विना हर्ष धर जावेंगे।
समैं पाय देंगे गुरू कैसी भी कठोर शिक्षा,
अमृत के प्याले जान पी पी हरसावेंगे।
करेंगे कठिन से भी कठिन मजाद गुरु,
संत सती विना तर्क शीश पै चढ़ावेंगे।
सोहन अनंत पड़ै ओरों से न पार कभी,
तेरापंथ-रीत तेरापंथी ही निभावेंगे॥ १॥
खड़े जो करेंगे गुरु सूरज के ताप तीर,
धीर धर वीर वो शरीर को सुखावेंगे।
देवेंगे छदाम हाथ वस्त्र तन ढांकन कूं,
तो भी मुनिराज नहीं लाज मन लावेंगे॥

काम जो कहेंगे गुरु देखके पुनीत भाव,
चावसे विनीत शीघ्र पार ही लंघावेंगे।
सोहन भनंत पड़ै ओरों से न पार कभी,
तेरापंथ-रीत तेरापंथी ही निभावेंगे ॥ २ ॥
सभामें निषेधेंगे जरा-सी तक़सीर देख,
ताहि सुनै अंश भी न मुंह मचकावगे।
हाजर रहेंगे गुरु-सेवामें हमेश खड़े,
होठ फटकारै निज हिम्मत दिखावेंगे ॥
करके प्रयत्न पूरा सहके अनेक कष्ट,
लोकन कूं जैन-धर्म-मर्म समझावेंगे।
सोहन भनंत पड़ै ओरोंसे न पार कभी,
तेरापंथ-रीत तेरापंथी ही निभावेंगे ॥ ३ ॥
ह्वैंगे अविनीत कोई टालोकड़ टोला बार,
ताकूं सुविनीत शिष्य मुंह ना लगावेंगे।
बाजे बाजे वक्त आय कैसा भी पड़ेगा कष्ट,
तो भी गुण जाण प्राण गणमैं खपावेंगे ॥
गण और गणीस रखेंगे इकतारी सदा,
उन्नति हमेश भिक्षु-शासनकी चावेंगे।
सोहन भनंत पड़ै ओरोंसे न पार कभी,
तेरापंथ-रीत तेरापंथी ही निभावेंगे ॥ ४ ॥
करेंगे अनेक विध निन्दा कोई सन्तन की,
तो भी नहीं निन्दा-वाक्य फिरती सुनावेंगे।

आपेंगे अवज्ञा इस पन्थ की अनेक झूठी,
साधुवर्ग तो भी नहीं छापे छपवावेंगे ॥
समतामें झूल-झूल फूलेंगे सहर्ष चित्त,
समता अपार मोह्-ममता मिटावेंगे।
'सोहन' अनंत पड़े औरोंसे न पार कभी,
तेरापंथ-रीत तेरापंथी ही निभावेंगे ॥ ५ ॥

अभ्यास

१—क्या तेरापंथी साधु-सतिया गुरुकी किसी भी मर्यादाको अस्वीकार नहीं करते ?

२—तेरापंथियोंकी अपनी क्या-क्या विशेषताएं है ?

३—तीसरे पद्यकी पहली दो पंक्तियोंका सहेतुक भावार्थ समझाओ।

क्या आत्मा है ?

आत्मा अमूर्त्त हैं। श्याम, पीत आदि वर्ण-रहित है, रूप-रहित है। अतः इन्द्रियोंके द्वारा उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय-ज्ञानका विषय केवल मूर्त्त द्रव्य ही है और इसी कारणसे इन्द्रिय-ज्ञानके पक्षपाती आत्माका अस्तित्व भी, नहीं मानते। वे कहते हैं इन्द्रिय-ज्ञानसे परे कोई वस्तु ही नहीं, किन्तु ध्यान देनेसे यह कथन सर्वथा असंगत मालूम देगा। ज्ञानकी अपूर्णतामें वस्तुका अभाव मान लेना कहां की बुद्धिमानी है। सूक्ष्म यन्त्रों (Microscopes) की सहायतासे देखेजानेवाले कीटाणुओंका, उन यन्त्रोंकी अविद्यमानतामें अभाव कैसे मान लें? इन्द्रिय-ज्ञान पौद्गलिक साधनोंकी अपेक्षा रखता है। साधन जितने प्रबल होते हैं, ज्ञान उतना ही स्पष्ट होता है, परन्तु केवल मूर्त्त द्रव्यका, अमूर्त्तका नहीं। जिन पदार्थोंको हम साधारण-तया आंखोंसे नहीं देख सकते उनको यन्त्रोंकी सहायतासे भी देख

सकते हैं और जिनको यन्त्रोंकी सहायतासे भी नहीं देख सकते, उनको आत्मीय ज्ञानका अधिक विकास होनेसे देख सकेंगे। इसलिए इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होनेके कारण ही आत्मा नहीं है, यह बात किसी भी दृष्टि-बिन्दुसे युक्तियुक्त नहीं।

Senses can not lead us beyond the superficial appearance of sense objects In order to go deeper in the realm of the invisible, we invent instruments and with their help, we are able to penetrate a little further, but these instruments again have their limit. After using one kind of instrument, we become dissatisfied with the results and search for some other which may reveal more and more and thus we struggle on, discovering at each step how poor and helpless are the Sense powers in the path of the knowledge of the absolute. At last we are driven to the conclusion that any instrument, no matter how fine, can never help us to realize that which is beyond the reach of sense perception, intellect and thought. So even if we could spend the whole of our time and energy into studying phenomena we shall never arrive at any satisfactory result or be able to see things as they are in reality. The knowledge of today, gained by the help of certain instruments will be the ignorance of tomorrow, if we get better instruments The knowledge of last year is already the ignorance of present year, the knowledge of this centuary will be ignorance in the light of the discoveries of a new centuary

अर्थात् इन्द्रियोंसे पदार्थोंका सिर्फ मामूली बाहरी ज्ञान ही हो

सकता है अतः हम पदार्थोंका बारीकीसे निरीक्षण करनेके लिए यन्त्रोंका आविष्कार करते हैं और कुछ दूर तक सफल भी होते हैं। लेकिन इनको कुछ दिनों तक व्यवहार करनेके पश्चात् इनमें कोई आकर्षण नहीं रह जाता और हम पुनः नये ज्यादा शक्तिवाले यन्त्रोंका आविष्कार करते हैं। इस प्रकार नये-नये आविष्कार करने पर भी हम महसूस करते हैं कि वास्तविक रहस्यका—पूर्णता का पता लगानेमें हम अब भी कितने असहाय हैं और अन्तमें हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि हमारा यन्त्र चाहे कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो इन्द्रियज्ञानके परेकी चीज हम जान ही नहीं सकते। इसलिए चाहे हम कितना ही समय या शक्ति क्यों न खर्च करें हम उन यन्त्रोंसे पदार्थोंके असली स्वरूपका पता लगा ही नहीं सकते। इन यन्त्रों द्वारा प्राप्त आजका ज्ञान कल अज्ञानमें परिणत हो जावेगा, पिछले सालका ज्ञान आज अज्ञान साबित हो चुका है और इस शताब्दीका ज्ञान अगली शताब्दीमें अज्ञान साबित होगा।

"अनुमानके द्वारा भी आत्माका अस्तित्व जाना जा सकता है हम हवाको नहीं देख सकते फिर भी स्पर्शके द्वारा उसका बोध होता है इसी प्रकार हम आत्माको नहीं देख सकते फिर भी अनुभव एवं ज्ञान करनेकी शक्तिसे उसे जान सकते हैं।

उदाहरणार्थः—

In a dark room pictures are thrown on a screen by lantern slides. The room is absolutely dark. We are looking at the pictures. Suppose we open

a window and allow the rays of the mid-day sun to fall upon the screen. Would we be able to see those pictures ? No Because the more powerful flood of light will subdue the light of the lantern and the pictures. But although they are invisible to our eyes, we cannot deny their existence on the screen Similarly the pictures of the events of our previous lives upon the screen of subliminal self may be invisible to us at present but they exist there. Why are they invisible to us now ! Because the more powerful light of sense consciousness has subdued them. If we close the windows and door of our senses from outside contact and darken the inner chamber of ourself then by focussing the light of consciousness and concentrating the mental rays we shall be able to know and remember our past lives and all the events and experiences there of.

साराश—एक अन्धेरे कमरेमे पर्दे पर बाइस्कोपकी तसवीरे दिखायी जा रही है। हम उन तसवीरोंको देख रहे है। किसी ने इस कमरे की खिड़कियों एवं दरवाजोंको खोल दिया। पर्दे पर अब सूर्य प्रकाश पड़ने लगा और तसवीरोंका दीखना बन्द हो गया। तसवीरे अब भी पर्दे पर है परन्तु हम देख नहीं सकते। इस हालतमे क्या हम पर्दे पर तसवीरोंका अस्तित्व इन्कार कर सकते है ? उत्तर—कदापि नहीं। इसी प्रकार हमारे पूर्व जन्मकी घटनावलिया हमारी आत्माके साथ सम्बन्ध किये हुए है, परन्तु उनके सम्बन्धमें जान नहीं सकते। फिर भी उनका अस्तित्व है।

हमारे वर्तमात इन्द्रिय ज्ञानने उन घटनावलियोंका ज्ञान रोक रखा है। अतः ,यदि हम इन्द्रिय ज्ञानरूपी दरवाजों और खिड़कियों को बन्द करके, मानसिक एकाग्रता, आत्म-चिन्तवन या ध्यान-रूपी किरणोंसे जाननेकी चेष्टा करें तो अपने पूर्व जन्मकी समस्त घटनावलियों—समस्त अनुभवोंका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

पुनर्जन्म एवं आत्माका अस्तित्व समझनेमें यह उदाहरण काफ़ी उपयोगी है।

❀ न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

आत्माका न तो कभी जन्म ही हुआ और न कभी इसकी मृत्यु ही होगी। यह अनादि है, अनन्त है। अजन्म है, नित्य है, शाश्वत है। शरीरकी मृत्यु होने पर भी आत्माकी मृत्यु नहीं होती।

यह प्रकृतिका अटल नियम है कि जो व्यक्ति जैसा काम करता है उसका फल भी वही भोगता है। कर्ता एक हो और भोक्ता कोई दूसरा, ऐसा हो नहीं सकता। इस न्यायसे इस लोक में इस जन्ममें जिन कर्मोंका फल भोगना बाकी रह जाता है उनको दूसरे भवमें दूसरे जन्ममें भोगनेके लिए उस आत्माको पुनर्जन्म धारण करना ही पड़ेगा। इस प्रकार यह संसार-चक्र चालू रहता है।

❀ देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

❀ भगवद् गीता अ० २ — ❀ भगवद् गीता अ० २—१३

जीवात्माकी इस देहमें जैसे बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही दूसरे जन्मकी भी प्राप्ति होती है। इसी शरीर में बालकपनसे लेकर वृद्धावस्था तक हम नाना प्रकारके परिवर्तन देखते हैं। शरीरके बहुत अंशोंमे बदल जाने पर भी आत्मा नहीं बदलता। जो आत्मा बालकपनमें हमारे शरीरके अन्दर था वही वृद्धावस्थामें भी है। यदि ऐसा न हो तो १०-२० वर्ष पहले की कोई भी घटना हमें याद ही न रहे। जिस प्रकार वर्तमान शरीरमें, इतना परिवर्तन होने पर भी आत्मा नहीं बदलती उसी प्रकार मरनेके बाद दूसरा शरीर मिलने पर भी यह नहीं बदलती। वास्तवमें शरीरोंका परिवर्तन होता रहता है, आत्मा वहीकी वही रहती है।

We are dying at every moment. After every seven years it is said that our bodies completely renew all its constitutive elements, but still the form is preserved. Although every particle of our body is changed, still we continue to exist. Our continuity is not broken we remember things and events that happened 14 or 21 years ago.

Even if we hear millions of times—"there in no soul" still we can not be entirely convinied that we shall cease to exist after death We can not think of our annihilation We can not believe that our individuality will be lost forever, such solutions do not appeal to our reason. They do not satisfy our minds, nor do they bring any consolation to our souls.

सारांश—प्रत्येक क्षणमें हमारी मृत्यु हो रही है। ऐसा कहा जाता है कि प्रत्येक सातवें वर्षमें हमारे शरीरके समस्त पदार्थ सम्पूर्ण रूपसे बदल जाते हैं फिर भी हमारा अस्तित्व बीच ही में टूटनेके बजाय कायम रहता है, क्योंकि हम १४ या २१ वर्ष पहलेकी घटनावलियोंको याद रख सकते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि इस शरीरसे भिन्न भी कोई ऐसी चीज जरूर है जो हमारे अस्तित्वको सर्वदा कायम रखती है—यह आत्मा ही है।

कोई भी मनुष्य यह कभी नहीं सोचता कि एक दिन मैं नहीं रहूंगा, अथवा मैं पहले नहीं था परन्तु मनुष्य हरवक्त यही सोचता है कि मैं सदासे हूं और सदा रहूंगा। मनुष्यकी इस स्वाभाविक धारणाको कोई हटा नहीं सकता।

अर्थात् यदि हम लाखों दफे भी यह सुनें कि "आत्मा नहीं है आत्मा नहीं है" तो भी हमें यह विश्वास नहीं होता कि मृत्युके बाद हमारा अस्तित्व ही मिट जायगा। यह हम सोच ही नहीं सकते कि हमारा व्यक्तित्व सदाके लिए गायब हो जायगा। हमारी तर्क-बुद्धिमे यह बात नहीं जंचती तथा इससे न तो हमारे मनको ही सन्तोष होता है और न हमारी आत्माको ही।

प्रश्न—आत्मा एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश कैसे कर सकती है?

उत्तर - सूक्ष्म शरीर—कार्मण शरीरके द्वारा।

प्रश्न—आत्मा हमें दीखती क्यों नहीं?

उत्तर—वह अमूर्त्त है।

प्रश्न—विना देखे हम आत्माका अस्तित्व कैसे मान लें ?

उत्तर—"नाऽभावोऽतीक्षणादपि"—नहीं दीखने मात्रसे वस्तुका अभाव नहीं हो सकता।

प्रश्न—आत्माका रूप नहीं, आकार नहीं, वजन नहीं तो फिर वह पदार्थ ही क्या ?

उत्तर—रूप, आकार, वजन एक पदार्थ विशेषके निजी लक्षण हैं, सब पदार्थोंके नहीं। पदार्थका व्यापक लक्षण अर्थ-क्रिया-कारित्व है। पदार्थ वही है जो प्रतिक्षण अपनी क्रिया करता रहे। पदार्थका दूसरा लक्षण सत् है। सत्का अर्थ है कि पदार्थ पूर्व-पूर्ववर्ती अवस्थाओंको त्यागता हुआ उत्तर-उत्तरवर्ती अवस्थाओंको प्राप्त करता हुआ अपने अस्तित्वको न त्यागे। आत्मामें पदार्थके दोनों लक्षण घटित हैं। आत्माका गुण चैतन्य है। आत्मामें जानने की क्रिया निरन्तर होती रहती है। आत्मा बाल्य, युवा, वृद्धत्व आदि अवस्थाओंकी एवं पशु, मनुष्य आदि शरीरों का अतिक्रमण करती हुई भी चैतन्य स्वरूपको अक्षुण्ण रख सकती है। अतः आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ है।

"शरीरग्रहरूपस्य चेतसः सम्भवो यदा जन्मादौ देहिनां दृष्टः किं न जन्मान्तरा गतिः"—तत्काल उत्पन्न कृमि आदि जीवोंके भी जन्मकी आदिमें ही शरीरका ममत्व देखा जाता है। यह ममत्व पूर्वाभ्यासके विना नहीं हो सकता। यदि पूर्व भवमें शरीरके साथ उसका सम्बन्ध जुड़ा ही नहीं तो फिर इसके बचावकी उसे

क्यों प्रेरणा मिलती है और क्यों उसे सुरक्षित रखनेका मोह होता है ? यह मोह किसी कारण विशेषसे है, निष्कारण नहीं। कारण वही पूर्व जन्मके कर्म और संस्कार है।

"यः कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च।
संसर्ता परिनिर्वाता, सह्यात्मा नान्यलक्षणः" ॥

जैन-दर्शनके अनुसार आत्मा कर्मोंकी कर्ता है, कर्मफल-भोक्ता है। संसारमें परिभ्रमण करानेवाली और मुक्तिमें ले जानेवाली भी आत्मा ही है।

आत्मा नहीं है, इसका कोई भी प्रमाण युक्तिसंगत नहीं। आत्मा है, इसका सबसे बलवान् प्रमाण जडविरोधी चैतन्य है। चैतन्य चैतन्य पदार्थका ही गुण है। जड़ पदार्थ उसका उपादान कारण हो नहीं सकता।

अभ्यास

१—अनुमानके द्वारा आत्माका अस्तित्व कैसे जाना जा सकता है ?

२—क्या नहीं दीखनेमात्रसे ही किसी चीजका अस्तित्व नहीं है ?

३—जैन-दर्शनके अनुसार आत्माका क्या लक्षण है ?

४—क्या आधुनिक यन्त्र आत्माको देखनेमें कारगर नहीं है ? यदि नहीं है तो क्यों ?

(३१)

आत्मा स्वतन्त्र तत्व है (प्रथमांश)

आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व नीचे लिखे सात प्रमाणोंसे माना जा सकता है—

(१) स्वसंवेदनरूप साधक प्रमाण, (२) वाधक प्रमाणका अभाव, (३) निपेधसे निपेधकर्ताकी सिद्धि, (४) तर्क, (५) शास्त्र व महात्माओंका प्रमाण, (६) आधुनिक विद्वानोंकी सम्मति और (७) पुनर्जन्म।

१—स्वसंवेदनरूप साधक प्रमाण—

यद्यपि सभी देहधारी अज्ञानके आवरणसे न्यूनाधिकरूपमें घिरे हुए है और इससे वे अपने ही अस्तित्वका सन्देह करते हैं तथापि जिस समय उनकी वुद्धि थोड़ी-सी भी स्थिर हो जाती है उस समय उनको यह स्फुरणा होती है कि 'मैं हूं'। यह स्फुरणा कभी नहीं होती कि 'मैं नहीं हूं'। इससे उल्टा यह भी निश्चय होता है कि 'मैं नहीं हूं', यह वात नहीं। इसी वातको श्रीशंकरा-

चार्यने भी कहा है—* सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति। इसी निश्चयको ही स्वसंवेदन (आत्म-निश्चय) कहते हैं।

२—बाधक प्रमाणका अभाव—ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो आत्माके अस्तित्वका बाध (निषेध) करता हो। इसपर यद्यपि यह शंका हो सकती है कि मन और इन्द्रियोंके द्वारा आत्माका ग्रहण न होना ही उसका बाध है परन्तु इसका समाधान सहज है। किसी विषयका बाधक प्रमाण वही माना जाता है जो उस विषयको जाननेकी शक्ति रखता हो और अन्य सब सामग्री मौजूद होने पर भी उसे ग्रहण न कर सके।

उदाहरणार्थ—आंख मिट्टीके घड़ेको देख सकती है पर जिस समय प्रकाश, समीपता आदि सामग्री रहने पर भी वह मिट्टीके घड़ेको न देखे उस समय उसे उस विषयका बाधक समझना चाहिए। इन्द्रियां सभी भौतिक हैं। उनकी ग्रहण शक्ति बहुत परिमित है, वे भौतिक पदार्थोंमेंसे भी स्थूल, निकटवर्ती और नियत विषयोंको ही ऊपर ऊपरसे जान सकती हैं। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र आदि साधनोंकी भी वही दशा है, वे अभीतक भौतिक प्रदेशोंमें ही कार्यकारी सिद्ध हुए हैं, इसलिए उनका अभौतिक—अमूर्त्त आत्माको जान न सकना बाध नहीं कहा जा सकता। मन भौतिक होने पर भी इन्द्रियोंकी अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् है सही पर जब वह इन्द्रियोंका दास बन जाता है—एकके पीछे एक इस तरह अनेक विषयोंमें बन्दरके समान दौड़ लगाता फिरता

❀ ब्रह्मसूत्रभाष्य १। १। १

है तब उसमें राजस व तामस वृत्तियां पैदा होती हैं, सात्विक भाव प्रगट होने नहीं पाता। यही बात गीतामें भी कही है —

❀ इन्द्रियाणां हि चरतां, यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

इसलिए चंचल मनमें आत्माकी स्फुरणा भी नहीं होती। यह देखी हुई बात है कि प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्ति जिस दर्पणमें वर्तमान है वह भी जब मलिन हो जाता है तब उसमें किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब व्यक्त नहीं होता। इससे यह बात सिद्ध है कि बाहरी विषयोंमें दौड़ लगानेवाले अस्थिर मनसे आत्माका ग्रहण न होना उसका बाध नहीं है किन्तु मनकी अशक्तिमात्र है।

इस प्रकार विचार करनेसे यह सिद्ध होता है कि मन, इन्द्रियां सूक्ष्मदर्शक यन्त्र आदि सभी साधन भौतिक होनेसे आत्माका विरोध करनेकी शक्ति नहीं रखते।

३—निषेधसे निषेधकर्ताकी सिद्धि—कुछ लोग यह कहते हैं कि हमें आत्माका निश्चय नहीं होता बल्कि कभी-कभी उसके अभावकी स्फुरणा हो आती है। क्योंकि किसी समय मनमें ऐसी कल्पना होने लगती है कि मैं नहीं हूं इत्यादि। परन्तु उनको जानना चाहिए कि उनकी वह कल्पना ही आत्माके अस्तित्वको सिद्ध करती है। क्योंकि यदि आत्मा ही न हो तो ऐसी कल्पनाका प्रादुर्भाव कैसे? जो निषेध कर रहा है, वह स्वयं ही आत्मा है। इसी बात को श्री शंकराचार्यने अपने ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें भी कहा है:—

❀ गीता अ० २-६७

❀ य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम् ।

४—तर्क—यह भी आत्माके स्वतन्त्र अस्तित्वकी पुष्टि करता है। यह कहता है कि जगत्में सभी पदार्थोंका विरोधी कोई न कोई देखा जाता है—जैसे अन्धकारका विरोधी प्रकाश, उष्णताका विरोधी शैत्य, सुखका विरोधी दुख। इसी तरह जड़ पदार्थका विरोधी भी कोई तत्व होना चाहिए। जो तत्त्व जड़का विरोधी है, वही चेतन है।

इस पर यह तर्क किया जा सकता है कि जड़-चेतन—ये दो स्वतन्त्र विरोधी तत्त्व मानने उचित नहीं किन्तु किसी एक ही प्रकारके मूल पदार्थमें जड़त्व व चेतनत्व ये दोनों शक्तिया माननी उचित हैं। जिस समय चेतनत्व शक्तिका विकास होने लगता है—उसकी व्यक्ति होती है, उस समय जड़त्व शक्तिका सिरोभाव रहता है। सभी चेतन शक्तिवाले प्राणी जड़ पदार्थके विकासके ही परिणाम हैं, वे जड़के अतिरिक्त अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते किन्तु जड़त्व शक्तिका तिरोभाव होनेसे जीवधारी रूपमे दिखाई देते हैं। ऐसा ही मन्तव्य हेकल आदि अनेक पश्चिमीय विद्वानोंका भी है।

इस प्रतिकूल तर्कका निवारण अशक्य नहीं है। यह देखा जाता है कि किसी वस्तुमें जब एक शक्तिका प्रादुर्भाव होता हें तब उसमें दूसरी विरोधिनी शक्तिका तिरोभाव हो जाता है। परन्तु जो शक्ति तिरोहित हो जाती है वह सदाके लिए नहीं। किसी

❀ शङ्करभाष्य अ० २ पा० ३ अ० १ सू० ७

समय अनुकूल निमित्त मिलने पर फिर भी उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार जो शक्ति प्रादुर्भाव हुई होती है वह सदाके लिए नहीं, प्रतिकूल निमित्त मिलते ही उसका तिरोभाव हो जाता है। उदाहरणार्थ—पानीके अणुओंको लीजिये। वे गर्मी पाते ही भापरूपमें परिणत हो जाते हैं। फिर शैत्य आदि निमित्त मिलते ही पानी रूपमें बरसते हैं। अधिक शीतत्व होने पर द्रव्यत्वरूप को छोड़ बर्फरूपमें घनत्वको प्राप्त कर लेते हैं।

इसी तरह यदि जड़त्व, चेतनत्व—इन दोनों शक्तियोंको किसी एक मूल तत्त्वगत मान लें तो विकासवाद ठहर ही न सकेगा। क्योंकि चेतनत्व शक्तिके विकासके कारण जो आज चेतन (प्राणी) समझे जाते हैं वे ही सब जड़त्व शक्तिका विकास होने पर फिर जड़ हो जायंगे। जो पाषाण आदि पदार्थ आज जड़ रूपमें दिखाई देते हैं वे कभी चेतन हो जायंगे और चेतनरूप से दिखाई देनेवाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणी कभी जड़रूप भी हो जायंगे। अतएव एक पदार्थमें जड़त्व-चेतनत्व—इन दोनों विरोधिनी शक्तियोंको न मानकर जड़-चेतन दो स्वतन्त्र तत्त्वोंको ही मानना ठीक है।

(५) शास्त्र व महात्माओंका प्रामाण्य—

अनेक पुरातन शास्त्र भी आत्माके स्वतन्त्र अस्तित्वका प्रतिपादन करते हैं। जिन शास्त्रकारोंने बड़ी शान्ति व गम्भीरताके साथ आत्माके विषयमें खोज की, उनके शास्त्रगत अनुभवको यदि

हम बिना अनुभव किये ही चपलतासे यों ही हंसीमें उड़ा दें तो इसमें क्षुद्रता किसकी ? आजकल भी अनेक महात्मा ऐसे देखे जाते है कि जिन्होंने अपना जीवन पवित्रतापूर्वक आत्माके विचारमें ही बिताया। उनके शुद्ध अनुभवको हम यदि अपने भ्रान्त अनुभवके बलपर न मानें तो इसमें न्यूनता हमारी ही है। पुरातन शास्त्र और वर्तमान अनुभवी महात्मा नि स्वार्थ भावसे आत्माके अस्तित्वको बतला रहे हैं।

(६) आधुनिक वैज्ञानिकोंकी सम्मति—

आज कल लोग प्रत्येक विषयका विवेचन करनेके लिए बहुधा वैज्ञानिक विद्वानोंका विचार जानना चाहते हैं। यह ठीक है कि अनेक पश्चिमीय भौतिक-विज्ञान-विशारद आत्माको नहीं मानते या उसके विषयमें संदिग्ध हैं परन्तु ऐसे भी अनेक धुरन्धर वैज्ञानिक हैं कि जिन्होंने अपनी सारी आयु भौतिक खोजमें बिताई है पर जिनकी दृष्टि भूतोंसे परे आत्म तत्त्वकी ओर भी पहुंची है, उनमेंसे सर आलीवर लाज और लार्ड केलविनका नाम वैज्ञानिक संसारमें विख्यात है। ये दोनों विद्वान चेतन तत्त्वको जड़से जुदा माननेके पक्षमें हैं। उन्होंने जड़वादियोंकी युक्तियोंका खंडन बड़ी सावधानी व विचार-सरणिसे किया है। उनका मन्तव्य है कि चेतनके स्वतन्त्र अस्तित्वके सिवाय जीवधारियोंके देहकी विलक्षण रचना किसी तरह बन नहीं सकती। वे और भौतिकवादियोंकी तरह मस्तिष्कको ज्ञानकी जड़ नहीं समझते किन्तु

उसे ज्ञानके आविर्भाव का साधन मात्र * समझते हैं।

डा० जगदीश बोस, जिन्होंने सारे वैज्ञानिक संसारमे नाम पाया है. इनकी खोजसे यहाँ तक निश्चय हो गया है कि वनस्पनियोंमे भी स्मरणशक्ति विद्यमान है। बोस महाशयने अपने आविष्कारोंसे स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व माननेके लिए वैज्ञानिक संसार को मजबूर किया है।

'(कर्म-ग्रन्थसे उद्धृत)

अभ्यास

१—हमें आत्माका अस्तित्वत क्यों मानना पड़ता है ?

२—आत्माके विषयमें आधुनिक वैज्ञानिकों का क्या मत है ?

३– स्वसंवेदनरूप साधक प्रमाणका क्या मतलब है ?

४—विकासवाद का सिद्धान्त तर्कसंगत क्यों नहीं है ?

❀ इन दोनो चैतन्यवादियोंके विचार की छाया सम्वत् १९६१ के जेष्ठ मासके, तथा सवत् १९६२ के मार्गशीर्ष मासके और सवत् १९६५ के भाद्रपद मासके "वसन्त" पत्रमें प्रकाशित हुई है।

आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व है (द्वितीय अंश)

(७) पुनर्जन्म—

नीचे लिखे अनेक प्रश्न ऐसे हैं कि जिनका पूरा समाधान पुनर्जन्मके माने बिना नहीं हो सकता। गर्भके आरम्भसे लेकर जन्म तक बालकको जो २ कष्ट भोगने पड़ते हैं वे सब उस बालककी कृतिके परिणाम हैं या उसके माता-पिता की कृतिके? उन्हें बालककी उस जन्मकी कृतिका परिणाम नहीं कह सकते, क्योंकि उसने गर्भावस्थामें तो अच्छा या बुरा कुछ भी काम नहीं किया है। यदि माता-पिता अच्छा या बुरा जो कुछ भी करें तो उसका परिणाम बिना कारण बालकको क्यों भोगना पड़े? बालकको जो कुछ दुःख-सुख भोगना पड़ता है, वह यों ही बिना कारण भोगना पड़ता है, यह मानना तो अज्ञान की पराकाष्ठा है। क्योंकि बिना कारण किसी कार्यका होना असम्भव है।

यदि यह कहा जाय कि माता-पिताके आहार - विहार का विचार-वर्तनका और शारीरिक-मानसिक अवस्थाओंका असर बालक पर गर्भावस्थासे ही पड़ना शुरू हो जाता है तो फिर यह प्रश्न होता है कि बालकको ऐसे माता-पिताका संयोग क्यों हुआ ? और इसका क्या समाधान है कि कभी-कभी बालककी योग्यता माता-पितासे बिल्कुल ही जुदा प्रकारकी होती है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे जाते है कि माता-पिता बिल्कुल अपढ़ होते है और लड़का पूरा शिक्षित बन जाता है। यहाँ तक देखा जाता है कि किन्हीं-किन्हीं माता-पिताओंकी रुचि जिस बात पर बिल्कुल ही नहीं होती, उसमें बालक सिद्धहस्त हो जाता है। इसका कारण केवल आस-पासकी परिस्थिति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि समान परिस्थिति और बराबर देखभाल होते हुए भी अनेक विद्यार्थियोंमें विचार व वर्त्तनकी विषमता देखी जाती है। यदि कहा जाय कि यह परिणाम बालकके अद्भुत ज्ञान-तन्तुओंका है तो इस पर यह शंका होती है कि बालकका देह तो माता-पिताके शुक्र-शोणितसे बना होता है फिर उनमे अविद्यमान ऐसे ज्ञान तन्तु बालकके मस्तिष्कमें आये कहाँ से ? कहीं-कहीं माता-पिताकी सी ज्ञानशक्ति बालकमे देखी जाती है सही, पर इसमें भी प्रश्न है कि ऐसा सुयोग क्यों मिला ? किसी-किसी जगह यह भी देखा जाता है कि माता-पिताकी योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है और उनके सौ प्रयत्न करने पर भी लड़का मूर्ख ही रह जाता है। यह सबको विदित ही है कि

एक साथ युगल-रूपसे जन्मे हुए दो बालक भी समान नही होते। माता-पिताकी देखभाल बराबर होने पर एक साधारण ही रहता है और दूसरा कहीं आगे बढ़ जाता है। एकका पिण्ड रोगसे नहीं छूटता और दूसरा बड़े-बड़े कुस्ती बाजोंसे भिडता है। एक दीर्घजीवी बनता है और दूसरा सौ यत्न होते रहने पर भी अकालमें यमका अतिथि बन जाता है; एककी इच्छा संयत होती है और दूसरेकी असंयत।

जो शक्ति भगवान् महावीर, बुद्ध और शंकराचार्यमें थी, वह उनके माता-पिताओं में न थी। हेमचन्द्राचार्यकी प्रतिभाके कारण उनके माता-पिता नहीं माने जा सकते। उनके गुरु भी उनकी प्रतिभाके मुख्य कारण नहीं, क्योंकि देवचन्द्रसूरि के हेमचन्द्रके अतिरिक्त और भी शिष्य थे, फिर क्या कारण है कि दूसरे शिष्योंका नाम लोग जानते तक नहीं और हेमचन्द्राचार्य का नाम इतना प्रसिद्ध है।

वर्तमान युगके नेता अहिंसा धर्मके प्रचारक प्रतिभा और सदाचारसे युक्त महात्मा गांधीजीमें जो आत्मिक शक्ति थी वह उनके माता-पितामें न थी, न उनके माता-पिता उनकी आत्मिक शक्तिके कारण माने जा सकते हैं। श्रीमती एनीविसेंटमे जो विशिष्ट शक्ति देखी जाती है वह उनके माता-पिताओंमे न थी और न उनकी पुत्रीमें देखी गई है।

अच्छा, और भी कुछ प्रमाणिक उदाहरणोंको सुनिये—प्रकाशकी खोज करनेवाले डा० यंग दो वर्षकी अवस्थामें पुस्तक

को बहुत अच्छी तरह बांच सकते थे। चार वर्ष की अवस्थामें वे दो बार बाइबिल पढ़ चुके थे। सात वर्षकी अवस्थामें उन्होंने गणित शास्त्र पढ़ना आरम्भ किया था और तेरह वर्षकी अवस्थामे लेटिन, ग्रीक, हिब्रू, फ्रेंच, इटालियन आदि भाषाएं सीख ली थीं। सर विलियन रोवन हेमिल्टने तीन वर्षकी अवस्थामे हिब्रू भाषाको सीखना आरम्भ किया और सात वर्ष की अवस्थामें उस भाषामे इतना नैपुण्य प्राप्त कर लिया कि डाब्लेनके ट्रनिटी कालेजके एक फेलोको स्वीकार करना पड़ा कि कालेजमें फेलो पदके प्रार्थियोंमे भी उनके बराबर ज्ञान नहीं है। तेरह वर्षकी अवस्थामें तो उन्होंने कम से कम तेरह भाषाओं पर पूर्ण अधिकार जमा लिया था। सन् १८९२ ई० में जन्मी हुई एक लड़कीने सन् १९०२ में दश वर्षकी अवस्थामें कई नाटक लिख लिये थे। उनकी माताके कथनानुसार वह पाच वर्षकी वयमें कई छोटी-मोटी कविताएं बना लेती थी। उसकी लिखी हुई कुछ कविताएं महारानी विक्टोरियाके पास भी पहुंची थीं। इस समय उस बालिकाका अंग्रेजी ज्ञान भी आश्चर्यजनक था। वह कहती थी कि मैं अंग्रेजी पढ़ी हुई नहीं हूं, परन्तु उसे जानती हूं।

उक्त उदाहरणों पर ध्यान देनेसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इस जन्ममे देखी जानेवाली सब विलक्षणताएं न तो वर्तमान जन्मकी कृतिके ही परिणाम है न केवल माता-पिताके केवल संस्कारके और न केवल परिस्थितिके ही। इसलिये आत्माके

अस्तित्वकी मर्यादाको गर्भके आरम्भ समयसे और भी पूर्व मानना चाहिए। वही पूर्व जन्म है।

पूर्व जन्ममें इच्छा या प्रवृत्ति द्वारा जो संस्कार सञ्चित हुए हों उन्हींके आधार पर उपर्युक्त शंकाओंका तथा विलक्षणताओंका सुसंगत समाधान हो जाता है। जिस युक्तिसे एक पूर्व जन्म सिद्ध हुआ उसीके बलसे अनेक पूर्व जन्मकी परम्परा सिद्ध हो जाती है। क्योंकि अपरिमित ज्ञान-शक्ति एक जन्मके अभ्यास का फल नहीं हो सकता। इस प्रकार आत्मा देहसे पृथक् अनादि सिद्ध होता है। अनादि तत्त्वका कभी नाश नहीं होता। इस सिद्धान्तको सभी दार्शनिक मानते हैं। गीतामें भी कहा है कि—

* 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत.।"

इतना ही नहीं, बल्कि वर्तमान शरीरके पश्चात् आत्माका अस्तित्व माने बिना अनेक प्रश्न हल नहीं हो सकते।

बहुत लोग ऐसे देखे जाते हैं कि वे इस जन्ममें तो प्रामाणिक जीवन बिताते हैं परन्तु रहते हैं दरिद्री। और बहुत से ऐसे भी देखे जाते हैं कि जो न्याय, नीति और धर्मका नाम सुनकर चिढ़ते हैं परन्तु होते हैं वे सब तरहसे सुखी। ऐसी अनेक उक्तियां मिल सकती हैं, जो हैं तो स्वयं दोषी और उनके दोषों (अपराधों) का फल भोग रहे हैं दूसरे। एक हत्या करता है और दूसरा पकड़ा जाकर फांसी पर लटकाया जाता है। एक चोरी करता है और पकड़ा जाता है दूसरा।

गीता अ० २-१६

यहां इस पर विचार करना चाहिए कि जिनको अपनी अच्छी या बुरी कृतिका बदला इस जन्ममें नहीं मिला, उसकी कृति क्या यों ही विफल हो जायगी ? यह कहना कि कृति विफल होती है, ठीक नहीं। यदि कर्ताको फल नहीं मिला तो भी उसका असर समाजके या देशके अन्य लोगों पर होता ही है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है वह सब दूसरोंके लिए ही नहीं। रात-दिन परोपकार करनेमें निरत महात्माओंकी भी इच्छा दूसरोंकी भलाई करनेके निमित्तसे अपना परमात्मत्व प्रगट करनेकी ही रहती है।

विश्वकी व्यवस्थामें इच्छाका बहुत ऊंचा स्थान है। ऐसी दशामें वर्तमान देहके साथ इच्छाके मूलका नाश मान लेना युक्ति-संगत नहीं। मनुष्य अपने जीवनकी आखिरी घड़ी तक ऐसी ही कोशिश करता रहता है, जिससे कि अपना भला हो। यह नहीं कि ऐसा करनेवाले सब भ्रान्त ही होते हैं। बहुत आगे पहुंचे हुए स्थिरचित्त व शान्त प्रज्ञावान् योगी भी इसी विचारसे अपने साधनको सिद्ध करनेकी चेष्टामें लगे होते हैं कि इस जन्ममें नहीं तो दूसरेमें ही सही, किसी समय हम परमात्मभावको प्रगट कर ही लेंगे। इसके सिवाय सभीके चित्तमें यह स्फुरणा हुआ करती है कि मैं बराबर कायम रहूंगा। शरीर-नाश होनेके पश्चात् चेतनका अस्तित्व न माना जाय तो व्यक्तिका उद्देश्य कितना संकुचित बन जाता है और कार्यक्षेत्र भी कितना अल्प रह जाता है ? औरोंके लिए जो कुछ किया जाय परन्तु

वह अपने लिए किये जानेवाले कामोंके बराबर हो नहीं सकता। चेतनकी उत्तर मर्यादाको वर्तमान देहके अन्तिम क्षण तक मान लेनेसे व्यक्तिको महत्त्वाकांक्षा एक तरहसे छोड़ देनी पड़ती है। इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें ही सही परन्तु मैं अपना उद्देश्य अवश्य सिद्ध करूंगा, यह भावना मनुष्यके हृदयमें जितना बल प्रकटा सकती है, उतना बल अन्य कोई भावना नहीं प्रकटा सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उक्त भावना मिथ्या है, क्योंकि उसका आविर्भाव नैसर्गिक और सर्व विदित है। विकासवाद भले ही भौतिक रचनाओंको देख कर जड़तत्त्वों पर खड़ा किया गया हो पर उसका विषय चेतन भी बन सकता है। इन सब बातों पर ध्यान देनेसे यह माने विना संतोष नहीं होता कि चेतन एक स्वतन्त्र तत्त्व है। वह ज्ञानसे या अज्ञानसे जो अच्छा-बुरा कर्म करता है उसका फल उसे भोगना ही पड़ता है और इसीलिए उसे पुनर्जन्मके चक्करमें घूमना पड़ता है। पुनर्जन्मको बुद्ध भगवान्ने भी माना है। पक्का निरीश्वरवादी जर्मन पण्डित निटशे कर्म-चक्र-कृत पुनर्जन्मको मानता है। यह पुनर्जन्म का स्वीकार आत्माके अस्तित्वको माननेके लिए प्रबल प्रमाण है। इस प्रकार आत्माके अस्तित्व मानने पर ही संसार-चक्रमें भ्रमण वा उससे निवृत्ति (निर्वाण-पद) की प्राप्ति मानी जा सकती है, कारण कि कर्मसे संसार और अकर्मसे मोक्षपदकी प्राप्ति होती है।

अभ्यास

१—क्या ज्ञान माता-पिता व अवस्थासे सापेक्ष है? यदि नहीं तो सोदाहरण इसे सिद्ध करो।

२—पुनर्जन्म नहीं माननेसे क्या बाधाएँ आती हैं?

३—क्या बौद्ध पुनर्जन्म मानते हैं?

३३

आत्मा और कर्म

प्रश्न—आत्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिसमें जानने की, अनुभव करनेकी शक्ति होती है, वह आत्मा है।

प्रश्न—आत्मा कितनी है ?

उत्तर—अनन्त हैं।

प्रश्न—वह कितने प्रकारकी है ?

उत्तर—कमसे कम दो प्रकारकी है। जैसे मुक्त आत्मा और संसारी आत्मा।

प्रश्न—मुक्त आत्मा किन्हें कहते है ?

उत्तर—जिन्होंने समस्त कर्मोंका क्षय करके परमात्म-पद प्राप्त कर लिया है, जो परमेश्वर, ईश्वर, सिद्ध, भगवान् कहलाते है और जिनका पुनर्जन्म नहीं होता वे मुक्त आत्माएं है।

प्रश्न—संसारी आत्मा किन्हें कहते हैं ?

उत्तर—जो कर्म सहित हैं अथवा जिनका पुनर्जन्म, मरण होता रहता है।

प्रश्न—संसारी आत्माएँ कितनी तरहकी हैं ?

उत्तर—दो तरह की; जैसे-त्रस और स्थावर।

प्रश्न—स्थावर किन्हें कहते हैं ?

उत्तर—जिनके एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। जैसे पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा एवं वनस्पतिके जीव स्थावर हैं।

प्रश्न—त्रस किन्हें कहते हैं ?

उत्तर—जिनके एकसे अधिक इन्द्रियां होती हैं। जसे-द्वीन्द्रिय—कृमि आदि, त्रीन्द्रिय—चींटी आदि, चतुरिन्द्रिय—भौंरे आदि, पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य, तिर्यञ्च-जलचर (मछली) आदि स्थलचर, (हाथी, घोड़ा आदि) खेचर (मोर, तितर आदि) देवता और नारकी।

प्रश्न—कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—आत्मस्वरूपको दबानेवाले एवं सुख-दुःख देनेवाले पुद्गल कर्म कहलाते हैं।

प्रश्न—क्या आत्मा और उन पुद्गलोंका आपसमें सम्बन्ध होता है ?

उत्तर—अवश्य। आत्मासे सम्बन्धित हुए बिना वे पुद्गल कर्म कहलाते ही नहीं।

प्रश्न—इनका सम्बन्ध कैसे होता है ?

उत्तर—आत्माकी अच्छी या बुरी प्रवृत्तिसे वे खींचे जाते हैं और उसके साथ दूधमे पानीकी तरह घुलमिल जाते है।

प्रश्न—वे कैसे खींचे जाते ? इसका कोई उदाहरण भी है ?

उत्तर—हा, है। जैसे जलता हुआ दीपक वत्तीसे तेलको टानता है, वैसे ही मलीन आत्मा अपनी प्रवृत्तिसे उन पुद्गलोंको टानती है।

प्रश्न—जिन पुद्गलोंका आत्मासे सम्बन्ध होता है, क्या वे एकसे है या भिन्न-भिन्न हे ?

उत्तर—आत्मासे सम्बन्धित होनेसे पहले एकसे होते हुए भी भिन्न-भिन्न कार्यके हेतु होनेके कारण वे भिन्न-भिन्न कहे जाते है और उनका स्वभाव भी भिन्न हो जाता है।

प्रश्न—वह कैसे ?

उत्तर—जो पुद्गल आत्माके ज्ञानको दबाते है, वह पुद्गल ज्ञानावरणीय कर्म कहलाते है और दर्शनकी रुकावट करनेवाले दर्शनावरणीय कर्म कहलाते हैं इत्यादि।

प्रश्न—कर्म मूर्त्त है या अमूर्त्त ?

उत्तर—मूर्त्त (रूपवान) है। चूकि कर्म पुद्गल है और पुद्गल रूपवान् ही होते है।

प्रश्न—कर्म यदि मूर्त्त है तो उन्हें हम क्यों नहीं देख पाते ?

उत्तर—मूर्त्त होते हुए भी वे इतने सूक्ष्म हैं कि इन्द्रियोंके द्वारा जाने नहीं जा सकते किन्तु विशिष्ट ज्ञानी अपने ज्ञानसे देख सकते है।

प्रश्न—यदि कर्म मूर्त्त हैं तो फिर अमूर्त्त आत्मासे उनका सम्बन्ध कैसे होगा ?

उत्तर—पहली बात तो यह है कि अमूर्त्तसे मूर्त्तका सम्बन्ध न जुड़ सके, ऐसा कोई नियम नहीं। अमूर्त्त आकाशसे मूर्त्त वस्तुओंका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। आकाशके प्रदेश में पुद्गल इस प्रकार घुलमिल हो रहे हैं कि उनका पता चलना भी कठिन हो जाता है और दूसरी संसारी आत्मायें एकान्त रूपसे अमूर्त्त हैं ही नहीं, क्योंकि वह सर्वदा अनादि कालसे कर्म-पुद्गलोंसे लिप्त चली आ रही हैं।

प्रश्न—इनका सम्बन्ध पहले पहल कब हुआ ?

उत्तर—कभी नहीं हुआ; क्योंकि जैसे आत्मा अनादि है वैसे कर्म और इनका सम्बन्ध भी अनादि है।

प्रश्न—यदि वह अनादि है तो इसका अन्त कैसे होगा ? क्योंकि जो अनादि है, वह अनन्त होगा ? इसके अनुसार तो कोई भी मुक्ति नहीं पा सकता ?

उत्तर—यह ठीक है। अनादिका अन्त नहीं हो सकता परन्तु कर्मका सम्बन्ध प्रवाहरूपसे अनादि है, वैयक्तिक रूपसे नहीं। जो कर्म अनादि काल पहले चिपके थे, वे ही आज चिपके हुए नहीं होते हैं किन्तु दूसरे-दूसरे होते हैं। व्यक्ति रूपसे एक कर्म अधिकसे अधिक असंख्य काल तक आत्माके साथ चिपक कर रह सकता है, उससे आगे नहीं। इसलिए आत्म-मुक्ति होनेमें कोई बाधा नहीं आती।

प्रश्न—कर्म जड़ है, इस दिशामें वह आत्माको यथोचित फल कैसे भुगता सकते है ?

उत्तर—यद्यपि इनमें यथोचित फल देनेका ज्ञान नहीं है तो भी इनके निमित्तसे आत्माकी वैसी ही परिणति हो जाती है। जैसे—जहर किसीको मारना नहीं जानता और अमृत किसीको जीवित रखना नहीं जानता तो भी विष खानेवाला मर जाता है और अमृत खानेवाला पुष्ट होता है।

प्रश्न—क्या किये हुए कर्म भोगने ही पड़ते है या ऐसे ही छुटकारा हो सकता है ?

उत्तर—कर्म-बन्ध दो तरहका होता है—निकाचित (निबिड) और दलिक (शिथिल)। जो कर्म निकाचित होते है, वे तो अवश्य भोगने पड़ते है और जो दलिक कर्म है, वे तपस्या से तोड़े जा सकते है। यदि सब कर्म विपाकरूपमे भोगने पड़ते तो फिर तपस्या, सत्संग, सदाचारका कोई अर्थ ही नहीं रहता।

प्रश्न—कई कर्म दलिक और कई निकाचित, यह क्यों ?

उत्तर—इसका कारण आत्माके बन्धोन्मुख तीव्र और मन्द परिणाम ही है। अति-आसक्तिसे कर्म बन्धते है, वे निकाचित होते हैं और आसक्तिकी मन्दतामें बन्धनेवाले दलिक होते है।

प्रश्न—कर्म करनेमें एवं भोगनेमें आत्मा स्वतन्त्र या परतन्त्र ?

उत्तर—कथञ्चित् (किसी दृष्टिसे) स्वतन्त्र है और कथञ्चित् परतन्त्र

है। कोई कर्म ऐसे निबिड़ होते हैं, जिन्हें हम ऊपरकी पंक्तियोंमें निकाचित कह आये हैं, उनके द्वारा आत्मा नवीन कर्म करनेमें या पुरातन कर्म भोगनेमें परतन्त्र होती है और जो शिथिल कर्म जिन्हें दलिक कर्म कहते हैं, उनका अनुभव करनेमें एवं उनके द्वारा नवीन कर्मका बन्धन करनेमें आत्मा स्वतन्त्र होती है, क्योंकि तपस्याके द्वारा उनकी फल देनेवाली शक्ति नष्टकी जा सकती है। अतएव कर्म करनेमें और भोगनेमें ईश्वर या वैसी किसी दूसरी शक्तिकी आवश्यकता नहीं है।

अभ्यास

१—मूर्त्त कर्मोंका अमूर्त्त आत्मासे सम्बन्ध कैसे होता है ?
२—आत्मासे कर्मोंका सम्बन्ध पहलेपहल कब हुआ ?
३—कर्म-फल भोगनेमें आत्मा स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?
४—सारे जगत्में व्याप्त कर्म-पुद्गल आत्माके द्वारा कैसे आकृष्ट कर लिये जाते हैं ?
५—क्या कर्म मूर्त्त हैं ? यदि मूर्त्त हैं तो हमें दीखते क्यों नहीं ?

(३४)

आत्माके विविध पहलू

आत्माके दो भेद है—सिद्ध और संसारी। सिद्ध आत्माये सब समान है। संसारी आत्माये कर्मयुक्त है। वे कर्मोकी स्वयं कर्ता हैं, कर्म-फल भोक्ता हैं, स्वदेह परिमाण हैं।

जैन-दर्शनके अनुसार आत्मा देह-परिमाण है। आत्मा न तो आकाशकी तरह व्यापक है और न अणुरूप। जब आत्मा को छोटा शरीर मिलता है तब वह सूखे चमड़ेकी भांति संकुचित हो जाती है और जब उसे बड़ा शरीर मिलता है तब उसके प्रदेश जलमे तेलके बिन्दुकी तरह फैल जाते है। आत्माके प्रदेशोंका संकोच और विस्तार बाधित नहीं है। दीपकके प्रकाशसे इसकी तुलनाकी जा सकती है। खुले आकाशमें रखे हुए दीपकका प्रकाश अमुक परिमाणका होता है। उसी दीपकको यदि कोठरी में रख दे तो वही प्रकाश कोठरीमे समा जाता है। एक घड़ेके नीचे रखते हैं तो घड़ेमें समा जाता है। ढकनीके नीचे रखते हैं

तो ढकनीमें समा जाता है। उसी प्रकार कार्मण शरीरके आवरण से आत्म-प्रदेशोंका भी संकोच और विस्तार होता रहता है।

जो आत्मा बालक शरीरमें रहती है, वही आत्मा युवा शरीरमें रहती है और वही वृद्ध शरीरमें। स्थूल-शरीर-व्यापी आत्मा कृश शरीर-व्यापी हो जाती है। कृश-शरीर-व्यापी आत्मा स्थूल शरीरवाली हो जाती है अतः आत्माके संकोच और विकासका स्वभाव स्वतः सिद्ध है।

इस विषयमें एक शंका हो सकती है कि आत्माको शरीर-प्रमाण माननेसे वह अवयव सहित हो जायगी और अवयव सहित हो जानेसे वह अनित्य हो जायगी, क्योंकि जो अवयव सहित होता है, वह विशरणशील अनित्य होता है। घड़ा अवयव सहित है अतः अनित्य है। इसका समाधान यह है कि यह कोई नियम नहीं कि जो अवयव सहित होता है, वह विशरणशील ही होता है, जैसे—घड़ेका आकाश, पटका आकाश इत्यादिक रूपतासे आकाश स-अवयव है और नित्य है, वैसे ही आत्मा भी सावयव और नित्य है और जो अवयव किसी कारणसे इकट्ठे होते है , वे ही फिर अलग हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो अविभागी अवयव है, वे अवयवीसे कभी पृथक् नही हो सकते।

विश्वकी कोई भी वस्तु एकान्त रूपसे नित्य व अनित्य नहीं है, किन्तु नित्यानित्य है। आत्मा नित्य भी है, अनित्य भी है। आत्माका चैतन्य स्वरूप कदापि नही छूटता अतः आत्मा नित्य है। आत्माके प्रदेश कभी संकुचित रहते है, कभी विकसित रहते

है, कभी सुखमें, कभी दुःखमें इत्यादि कारणोंसे तथा पर्यायान्तर से आत्मा अनित्य है। अतः स्याद्वादसे सावयवता भी आत्माके शरीर-परिमाण होनेमें बाधक नहीं है।

व्यावहारिक रूपमें पहिचानके लिए जीवके ये लक्षण भी बतलाये गये हैं, जैसे सजातीय जन्म वृद्धि और सजातीय उत्पादन, विजातीय पदार्थका आदान एवं स्वरूपमें परिणमन अर्थात् ग्रहण और उत्सर्ग।

सजातीय जन्म अर्थात् अपने ही प्रकारके किसीके शरीरसे उत्पन्न होना। सजातीय वृद्धि अर्थात् उत्पन्न होनेके बाद बढ़ना। सजातीय उत्पादन अर्थात् आपने ही समान किसीको उत्पन्न करना। विजातीय पदार्थका आदान एवं स्वरूप-परिणमनका अर्थ है विजातीय आहारको ग्रहण करना और उसे पचाकर अपनी धातुके रूपमें परिणत करना। जड़ पदार्थोंमें विजातीय द्रव्यका स्वीकरण एवं परिणमन नहीं देखा जाता। प्राणधारियों मे विजातीय वस्तुका ग्रहण होता है वैसे उत्सर्ग भी। उपरोक्त लक्षण प्राणियोंमें ही मिलते है, अप्राणियोंमे नहीं। ये लक्षण समस्त प्राणीमात्रमें नहीं मिला करते, इसलिए उपलक्षण हैं।

कई दार्शनिक, जीवको भी एक प्रकारका सर्वश्रेष्ठ यन्त्र सिद्ध करना चाहते है। ऐसे अनेक यन्त्र है जो नियमित रूपसे अपना-अपना काम करते है; इसी प्रकार मनुष्य या प्राणी भी एक सबसे निपुण यन्त्र है, जो अपना काम करता रहता है। आत्मा नामकी कोई स्थिर वस्तु नहीं है—इस युक्तिकी दुर्बलताको बतानेके लिए

उपरोक्त-लक्षण उपयोगी है। यन्त्र चाहे कैसा भी अच्छा क्यों न हो किन्तु न तो वह अपने सजातीय यन्त्रोंकी देहसे उत्पन्न होता है और न उत्पन्न होनेके बाद बढ़ता है और न किसी सजातीय यन्त्रको उत्पन्न ही करता है। इसलिए आत्मा और यन्त्रकी स्थिति एक जैसी नहीं। इनके अतिरिक्त खाना-पीना आदि आत्माका कोई व्यापक लक्षण नहीं। इंजिन खाता है, पीता है तो भी जीभ नहीं। मुक्त जीव न खाते हैं, न पीते हैं तो भी जीव है। इस प्रकार और भी अनेक लक्षण जीवकी पहिचान करानेको प्रस्तुत किये जा सकते हैं परन्तु उन सबमें जीवका व्यापक लक्षण चैतन्य ही है। कोई भी ऐसा जीव नहीं जिसमें चैतन्य न हो। एक इन्द्रियवाले जीवसे लेकर पंचेन्द्रिय जीवमें मन सहित जीवमें, अतीन्द्रिय जीवमें, प्रत्यक्ष ज्ञानवाले जीवमें सभीमें न्यूनाधिक रूपसे चैतन्य या ज्ञानकी मात्रा तीनों ही कालमें निश्चित रूपसे मिलेगी। इसका अर्थ यह नहीं कि जो बुद्धिमान् होता है वही जीव है। बुद्धिमान् ज्ञानके अधिक विकाससे कहलाता है पर चैतन्यका अर्थ बुद्धिमान् होना नहीं, उसका अर्थ है जिस तिस मात्रामें भी अनुभव करनेकी शक्तिका होना कमसे कम अनुभव रूप ज्ञान तो प्रत्येक आत्मामें मिलेगा ही। सारांश यह है कि जिसमें अनुभव करनेकी शक्ति होती है, वह आत्मा है और जिसमें अनुभव करनेकी शक्ति नहीं होती, वह आत्मा भी नहीं होती। अतएव आत्माका लक्षण चैतन्य है और वह सब आत्माओंमें व्याप्त हैं।

अभ्यास

१—असंख्यात प्रदेशवाली आत्मा भिन्न-भिन्न शरीरोंमें एक रूपसे कैसे समा जाती हैं ?

२—वस्तुका स्वरूप क्या है ?

३—क्या जीव एक विशेष यन्त्र नहीं जो मरनेके बाद असत् हो जाता है ?

४—क्या ऐसे भी कोई जीव हैं जो भोजनके बिना रह सकें ?

(३५)

सत्ताका अभिमान्

आजका युग राजनैतिकोंका युग है। विश्वकी सत्ता और नियन्त्रण उन्हींके हाथमें है। विश्वकी प्रत्येक समस्याको वे राजनीतिके द्वारा सुलझाना चाहते हैं। न केवल सुलझाना ही अपितु नई समस्यायें गूंथना भी चाहते हैं। अधर्म पर ही नहीं किन्तु धर्म पर भी डण्डेके बल पर शासन जमाना चाहते हैं। यह सत्ताका दुरभिमान है। यह भौतिकवादी युगका धार्मिक जगत्के प्रति अन्याय है। वह युग स्वर्ण-युग कहा जाता है जब कि अध्यात्मिक सत्ताका दुनियामें प्रभुत्व था।

जगत् परिवर्तनशील है। उन्नति और अवनतिका चक्र घूमता रहता है। भारतके जिस शासनतन्त्रमें आत्म-नियन्त्रण और आत्म विजयका बोलबाला था, उसमें आज पर नियन्त्रण और पर विजयकी धूमधाम है। आत्मवादका सिंहासन भूतवादने छीन लिया। आत्मा और धर्म पर भौतिक वादियोंकी

वक्र दृष्टि लगी हुई है। वे उनको और उनकी परम्पराओं को समाप्त करना चाहते है। इस प्रयत्नमे भारतीय और अभारतीय सब जड़वादी एक साथ हैं। उनका प्रथम या अन्तिम प्रहार भारतीय संस्कृति पर ही होगा। क्योंकि उसका स्रोत्र आत्मा और धर्मसे निकलता है।

आत्मवाद और धर्मका प्रचार साधु-सन्तोंने किया है। जब-तक संयमी साधु-सन्तोंकी परम्परा अक्षुण्ण रहे, तबतक आत्म-वादकी जड़ हिल नहीं सकती। इसलिए संयमी साधु-सन्तोंकी दीक्षा-शिक्षा पर भौतिकवादी मस्तिष्क राहु बने तो कोई अचरज की वात नहीं।

इतिहास वताता है कि वाल-जीवनमें दीक्षित हुए साधु-सन्त बड़े संस्कारी वने है। उन्होंने भौतिकवादको खूव नोचा है। भारतीय परम्परामें उनका जीवन बड़ा उज्ज्वल रहा है। उनकी साहित्य-साधनाने भारतीय विचारधाराका पल्लवन किया है। उनकी पावन कृतियोंसे आज भी भारतका सिर ऊँचा है।

भारतकी आत्मामें आज भी आध्यात्मिक प्रेरणा है। साधु-सन्तोंके प्रति श्रद्धा है। आज भी वैसे त्यागी साधु-सन्तोंका यहां सर्वथा अभाव नहीं है। भौतिकवादियोंको यही तो अखरता है। वे आत्मवादके उद्गमका मूल स्रोत सुखाना चाहते हैं।

वाल्य जीवनमें जैसी दृढ़ धारणाएँ वनती हैं, वैसी वादमें नहीं वनतीं। वालक अपनी नैसर्गिक रुचिके अनुसार जिस ओर झुकता है, उसमें पूर्ण सफल होता है। अवस्था पकने पर,

अपवादों को छोड़ कर बालक जैसे दृढ़ संस्कार नहीं बनते। इस लिए पुराने या नये सभी मानस-अध्येताओंने यही कहा है कि बालकको उसी विषयमें नियुक्त करना चाहिए, जिसमें उसकी नैसर्गिक रुचि हो। बड़ी अवस्थावाले आत्म-साधना कर सकते हैं किन्तु आत्माके तत्त्वोंका भलीभाँति अभ्यास, मनन या चिन्तन करनेमें उन्हें कठिनाईका अनुभव होता है। प्रौढ-अवस्थामें ग्रहण-शक्ति अच्छी हो सकती है किन्तु धारणा-शक्ति और स्मृति बाल्य-अवस्था जैसी अच्छी नहीं होती। इसलिए प्रत्येक सूत्रका निर्बाध संचालन करनेके लिए बाल-जीवन महान् उपयोगी है। वे ही ज्ञान-परम्परा जीवित-या उल्लसित रहती हैं, जिनका जीवनके प्रारम्भिक कालमें अध्ययन या अनुशीलन होता है।

बहुतसे आत्मवादी भी बाल-दीक्षाके विरोधी हैं। वैसी स्थिति में बाल-दीक्षाके विरोधको भौतिकवादियोंका कूटनीतिक प्रयत्न कहना क्या उनके प्रति अन्याय नहीं है? नहीं, मै उन पर दोषा-रोपण नहीं करना चाहता। मै जीवन के अनेक अनुभवोंके उपरान्त जिस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं, उसीका यह दिग्दर्शन है।

आत्मवादी दीक्षा या बाल-दीक्षाका विरोध नहीं करते। उनका विरोध साधु-समाजमें धँसी हुई बुराइयोंसे है—अयोग्य दीक्षाओंसे है। आजके साधु-सन्त भी कम उच्छृङ्खल नहीं हैं। शिष्य-संख्याकी लोलुपताने उन्हें धर दबाया है। बहुसंख्यक गुरु अयोग्य दीक्षाके द्वारा ही अपना कार्य चलाते हैं। साधु-समाजोंमें बालक को फुसलाकर, सुविधाओंका प्रलोभन देकर,

उसके पारिवारिकों को आर्थिक प्रलोभन देकर, अभिभावकों की स्वीकृतिके विना दीक्षा देना आदि २ ऐसी विभत्स घटनाएँ घटती हैं, जिनका समाज पर बुरा असर होता है। यदि सब साधु-समाज संभल जायें, अयोग्य दीक्षाओं को रोक दें तो कोई कारण नहीं कि आत्मवादी दीक्षा या बाल-दीक्षाका विरोध करें।

भौतिकवादी मस्तिष्क की कल्पनाएँ कुछ और होती हैं। वह दीक्षित बालकों को इस दृष्टिसे देखता है कि ये बेचारे सांसारिक सुखोंसे वाञ्चित ही रह गये। इनने क्या देखा। ये न कुछ खा-पी सके, न कुछ आनन्दानुभव कर सके। ये दीक्षा जैसे गुरुतर कार्यको अभी क्या समझ सकते हैं। इनका ज्ञान अविकसित है। युवावस्थामें न मालूम इनकी क्या दशा होगी। ये कितने पछतायेंगे। ये साधु-जीवनमें ही गुप्त दुराचार सेवन करेंगे अथवा साधु-जीवन छोड़कर पुनः गृहस्थ बनेंगे, जो कि सर्वथा अनुचित है। इस विचारधाराके अनुसार कोई भी बालक दीक्षाके योग्य नहीं होता।

जहाँ तक संभव है बाल दीक्षाका विरोध उक्त धारणाओंके आधार पर किया जाता है। इनका समाधान क्या है; उस पर भी हमें कुछ विचार करलेना चाहिए। दीक्षाकी कसौटी योग्यता है। अयोग्य युवक एवं वृद्ध को भी दीक्षा नहीं दी जानी चाहिए। योग्य बालकको दीक्षा देनेमें कोई दोष नहीं।

संस्कारोंका जागरण दो प्रकारका होता है—नैसर्गिक और आधिगमिक। मनोवैज्ञानिकोंने विचार-परिवर्तनकी दो अवस्थाएँ

मानी हैं। इनमें जीवन-प्रवाह बदलता है। प्रेम या त्यागसे जीवन तांता जोड़नेकी भावना जागृत होती है। कई बालक स्वभावसे ही त्याग-मार्गकी ओर प्रवृत्त होते हैं और कई विरक्तिपूर्ण वातावरणके संपर्कसे।

जो विरक्त हो, संयम ग्रहण करनेकी दृढ़ भावना रखता हो, दीक्षाके स्वरूपको समझता हो, दीक्षाके योग्य ज्ञान और आचरण की मर्यादाको जानता हो, जीवन-परिवर्तनकी पहली अवस्थावाला हो, दूसरे शब्दोंमें ६ वर्षसे कम अवस्थावाला न हो, ऐसे बालक को उसके अभिभावकोंकी स्वीकृतिपूर्वक पूर्ण परीक्षाके बाद जनताके सम्मुख दीक्षा दीजाए तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

फुसलाकर, ललचाकर या अभिभाकोंको प्रलोभन देकर दीक्षा देना, चाहे बालक-युवक-वृद्ध किसीको भी दी जाये, महान् पाप है, घोर अत्याचार है, दीक्षाके नाम पर अनाचारका पोषण है।

चूंकि दीक्षाका उद्देश्य आत्म-कल्याण है, जिसमें वैसी भावना ही नहीं, वह साधुका भेख पहन सकता है, सही अर्थमें उसे दीक्षा नहीं आती। इसलिए दीक्षा उस व्यक्तिको दी जानी चाहिए जिसकी अन्तर-आत्मामें वैराग्य हो। दीक्षा देनेके अधिकारी आचार्यों एवं साधुओंको भी इस प्रवृत्तिमें पूर्ण सावधान रहना चाहिए। येन केन प्रकारेण अयोग्य बालकोंको दीक्षा देनेकी प्रवृत्ति छोड़ देनी चाहिए ताकि आत्मवादी वर्गको उसका विरोध न करना पड़े।

दूसरी श्रेणीकी कल्पनाओंमें तर्क और मीमांसाके स्थान पर

सन्देह और मोहका प्रभुत्व है। विरक्त पुरुष सांसारिक काम-वासनाओं—विलासिताओंमें सुख नहीं मानता। खाना-पीना एशो-आराम करना विरक्त आत्माको भाता नहीं। उसका ध्यान एकमात्र आत्म-साधनामें केन्द्रित होता है। भौतिकवादी संभवतः वैसी स्थितिकी कल्पना तक नहीं कर सकते। यह माना कि दीक्षाका भार गुरुतर है। पर जिसके संस्कार बलवान् होते हैं, उसके लिए वह सहज है। एक ६ या १० वर्षका बालक लोच, सी-ताप, पैदलयात्रा, भूख-प्यास आदि भांति-भांतिके शारीरिक कष्टोंको सहर्ष स्वीकार करता है, क्या यह उसकी बलवान् आत्मा का कृतित्व नहीं है? गुरुके अनुशासनमें जीवन-यापन करना, मानसिक वृत्तियों पर नियन्त्रण करना क्या उसके प्रौढ़ हृदयकी साक्षी नहीं देता?

अनेक युवक और वूढ़े जिन कष्टोंका नाम सुनकर कांप उठते है, बालक उन्हींका उत्सुकतापूर्वक सामना करते हैं, क्या उन्हें हम बालक कहें? क्या सब चीजोंका मानदण्ड एकमात्र अवस्था ही होगा? क्या अवस्थाके सामने योग्यता कुचल दी जायगी। विकासने युवावस्थाके साथ गठबन्धन नहीं किया है। वह बाल्यवस्थामें भी हो जाता है, युवावस्थामें नहीं भी होता। विकासकी कोई एक परिभाषा नहीं है। बुद्धिकी दौड़ विभिन्न क्षेत्रोंमें होती है। एक आध्यात्मिक व्यक्ति काम-शास्त्रकी व्याख्या नहीं कर सकता, इसका यह अर्थ नहीं कि वह अविकसित है। बहुतसे ऐसे राजनीतिके पण्डित मिलेंगे जो अध्यात्म-शास्त्रके

'क, ख' को भी नहीं पहचानते। जो आत्म-प्रेरणासे प्रबुद्ध है, वह चाहे १० वर्षका ही हो, उसकी भावना मंजी हुई है—इस तथ्यको हम छिपा नहीं सकते।

दीक्षाका अर्थ है आत्म—साधना। उसके लिए ज्यादा दिमागकी जरूरत नहीं, उसके लिए जरूरत है पवित्र विचारोंकी और आत्म-दमन की। साधु दीक्षित होते ही विकारोंका सार्वदिक अन्त करडालें—यह नहीं होता। साधु साधक होते हैं, सिद्ध नहीं। सिद्ध होना चाहते हैं, इसलिए साधना करते हैं। साधनाके मार्गमें विकार बाधक बनें तो उनपर विजय पाना उनका धर्म है। इसलिए वह दान्त—इन्द्रियोंका दमन करनेवाले कहे जाते हैं।

इतिहासकी शताब्दियोंमें हजारों बालक दीक्षित बनें। आजीवन जितेन्द्रिय-जीवनमें रहे। भारतकी आत्म-साधनाको अमर बनाया। उनमेंसे इने-गिने भ्रष्ट हो गये—साधु जीवनसे च्युत हो गये तो उसमें क्या ऐसी बात है। अच्छाईके बीजोंमेंसे कोई २ बुराईका बीज भी निकल सकता है किन्तु उसके लिए अच्छाईका स्रोत रोकना को बुद्धिमानी नहीं होती। मानो कि कोई आज साधु बना। आगे चलकर वह शिथिल हो गया, विकारोंका दास बन गया, या कोई सैद्धान्तिक मत भेद हो गया, तब उसे जकड़कर नहीं रखता। दीक्षा पालनमें बलात्कारका प्रयोग नहीं होता—वयस्क होकर दीक्षा लेनेवाला क्या विचलित नहीं हो सकता? बालकोंकी अपेक्षा वयस्क अधिक संख्यामें

विचलित होते देखे गये हैं। अत व्यस्क होनेसे ही क्या होगा ? विकारोंसे चलित होनेका—साधुत्वसे च्युत होनेका सन्देह बना रहे, उस स्थितिमें तो दीक्षा वुढ़ापेसे पहले लेनी ही नहीं चाहिए। कई कई ७० वर्षके बूढ़े आदमी भी विकारी बन जाते हैं, इसलिए मृत्युशय्यासे पहले दीक्षाका नाम-स्मरण भी नहीं होना चाहिए।

खेद ! दुनियां अच्छी स्थिति नहीं देख सकती। वह सबका तोल-माप अपने दण्डसे ही करती है। दीक्षित होनेवाले बालक-अहिंसा-सत्य-पूर्ण सदाचारी जीवन विताते हैं, वह दुनियांको अच्छा नहीं लगता। उनकी बड़ी चिन्ता और दया देखी जाती है। हजारों लाखों बच्चे आचार भ्रष्ट होते हैं, तरह तरहकी बुराइयोंमें फॅसते हैं, उनकी तरफ कोई ध्यान नहीं देता। लाखों बच्चोंकी शिक्षा या विकास नहीं होता, वह क्षम्य है किन्तु साधु हो कर उच्च कोटिका विकास करे, वह अखरता है। सौ सौ साधुवाद है भौतिक युगकी विचारधाराको ! कोटि-कोटि धन्यवाद है भौतिकवादी मस्तिष्क को।

बालदीक्षित साधुओंने राष्ट्र और समाजका असीम हित-साधन किया है। उसके असंख्य प्रमाण हैं, किन्तु उन्होंने राष्ट्र और समाजका क्या अहित किया- यह भी तो कोई बतराए।

मैं स्वयं बालदीक्षित हूं। बालदीक्षितोंके निकटतम सम्पर्कमें हूं। मैंने बालदीक्षित आचार्योंसे दीक्षा और शिक्षा पाई है। हमारे वर्तमान गणनायक आचार्य श्री तुलसी बालदीक्षित हैं। पूर्व-वर्ती आठ आचार्योंमें से सात आचार्य बाल दीक्षित हुए हैं।

मैं तेरापंथ साधु संस्थाका एक सदस्य हूं। इसलिए मुझे उसकी गति-विधि एवं आन्तरिक स्थितिका अनुभव है। उसके आधार पर मै दृढ़तापूर्वक कह सकता हूं कि योग्य बालकोंकी दीक्षा समाज या राष्ट्रके लिए किसी प्रकार भी हानिकर नहीं प्रत्युत उपयोगी और आवश्यक है।

अभ्यास

१—क्या बाल-दीक्षा उचित है? यदि है तो उसका यौक्तिक समर्थन बतलाइये।

२—संस्कारोंके उद्बुद्ध होनेके कितने कारण हैं? उनका संक्षेपमें वर्णन करो।

३—आजकल बाल-दीक्षाका इतना विरोध क्यों होता है?

४—क्या बाल-दीक्षा ही उचित है?

(३६)

आत्मा और कर्मका सम्बन्ध कबसे ?

कर्म आत्मा पर अनादि कालसे चिपटे हुए हैं, कोई भी संसारी आत्मा कर्मके विना एक क्षण भी संसारमें नहीं टिकती। जितने कर्म-पुद्‌गल आत्मासे चिपटते हैं, वे सब अवधिसहित होते हैं। कोई भी एक कर्म अनादि कालसे आत्माके साथ घुल-मिलकर नहीं रहता। फलतः हमे यह कहना होगा कि आत्मासे कर्मोंका सम्बन्ध प्रवाहरूपसे अनादि और भिन्न-भिन्न व्यक्ति रूपसे सादि है।

तर्क-शास्त्रका यह एक नियम है कि जो अनादि होता है, उसका कभी अन्त नहीं होता। यह भी हम जानते हैं कि आत्माएँ अनादिकालीन कर्म-बन्धन तोड़कर मुक्त होती हैं, इसका समाधान इन शब्दोंमें ही हो चुका है कि आत्मा और कर्मका सम्बन्ध प्रवाहरूपसे अनादि है, व्यक्तिरूपसे नहीं।

अचेतन एवं रूपी कर्म-पुद्‌गल चेतन एवं अरूपी आत्मासे कैसे सम्बन्ध करते हैं, यह भी कोई न होनेवाली बात नहीं। यद्यपि आत्मा स्वरूपतः अमूर्त्त है तथापि संसारी आत्माका स्वरूप कर्मावृत होनेके कारण पूर्णरूपेण प्रकट नहीं होता। अतएव संसारस्थ आत्माएँ कथंचित् (किसी दृष्टिकोणसे) मूर्त्त भी मानी-जाती हैं। कर्मका सम्बन्ध इस कोटिका सम्बन्ध इस कोटिकी आत्माओंसे ही होता है। जो आत्माएं सर्वथा अमूर्त्त यानी कर्ममुक्त हो चुकती हैं, उनसे फिर कर्म सम्बन्ध नहीं करपाते। इसका सार इतना ही है कि कर्मयुक्त आत्माके कर्म लगते हैं।

यह पूछा जा सकता है कि आत्माके पहले पहल कर्म कैसे लगे? पर जब हम आत्मा एवं कर्मकी पहल निकाल ही नहीं सकते, क्योंकि उनका प्रारम्भ है ही नहीं, तब श्रीगणेश कैसे बतलायें? इसका समुचित उत्तर यही है कि आत्मा और कर्मका सम्बन्ध अपश्चानुपूर्वी है अर्थात् वह सम्बन्ध न तो पीछे है और न पहले।

यदि कर्मोंसे पहले आत्माको मानें तो फिर उसके कर्म लगने का कोई कारण नहीं बनता। कर्मोंको भी आत्मासे पहले नहीं मानसकते क्योंकि वे किये बिना होते नहीं और आत्माके बिना उनका किया जाना सर्वथा असंभव है। इन दोनोंका एक साथ उत्पन्न होना भी अयौक्तिक है। पहले तो उन्हें उत्पन्न करनेवाला ही नहीं। दूसरेमें कल्पना करो कि यदि ईश्वरको इनका उत्पादक मानलें तोभी हमारी गुत्थी सुलझती नहीं। प्रत्युत

इतनी इतनी विकट समस्यायें हमारे सामने आ खड़ी होती है कि उनका हल नहीं निकाला जा सकता। ईश्वरने क्या असत् से सत्का निर्माण किया या सत्का परिवर्तन किया ? असत् से सत् (सर्वथा नहीं से हां) और सत्से असत् (सर्वथा हां से नहीं) हो नहीं सकता, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। सत्का रूपान्तर भी क्यों किया एवं क्या से क्या किया ? पहले क्या था और बादमे क्या किया ? इनका कोई भी सन्तोषजनक समाधान नहीं हो सकता अतः इनका अनादि, अपश्चानुपूर्वी सम्बन्ध ही संगत एवं युक्तियुक्त है।

अभ्यास

१—आत्मा के साथ अनादिकालसे संश्लिष्ट कर्मोंका अन्त कैसे हो सकता है ?

२—संसारी आत्मा मूर्त्त कैसे हैं ?

३—ईश्वरको कर्मोंका उत्पादक मान लिया जाय तो क्या क्या गुत्थियां सामने आयेंगी ?

आठ-आत्मा

जीव और आत्मा ये दोनों एकार्थवाची शब्द हैं। संसारमें जीव अनन्त हैं। प्रत्येक जीवकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी अवस्थाओंको भी आत्मा कहते हैं। यों तो जीवकी जितनी अवस्थाएं हैं उतनी ही आत्माएं हैं यानी अनन्त अवस्थाएं हैं। तो भी उनकी मुख्य ८ अवस्थाओं को ध्यानमें रखकर आठ आत्माएं बतलाई है; जैसे— द्रव्य-आत्मा, कषाय-आत्मा, योग-आत्मा, उपयोग-आत्मा, ज्ञान-आत्मा, दर्शन-आत्मा, चारित्र-आत्मा और वीर्य-आत्मा।

द्रव्य-आत्मा मूल जीव है। प्रत्येक जीव अविभाज्य-असंख्य-प्रदेश-परिमाणवाला होता है। यदि एक जीवके कल्पनाके द्वारा परमाणु जितने खण्ड किये जायं तो वे असंख्य होंगे। उनमे शरीर के परिमाणानुसार संकोच और विकोच होता रहता है और वे सब ज्ञानमय होते हैं।

कषाय का अर्थ है—क्रोध, काम, माया, लोभ। इसमें जीव का जो परिणमन है, वह कषाय-आत्मा है। मन-वचन एवं शरीर की प्रवृति या चञ्चलता योग है। वह भी जीवकी एक अवस्था है। ज्ञान और दर्शनकी प्रवृतिको उपयोग कहते हैं। वह जीव का लक्षण है। जिसके द्वारा जाना जाता है, उसे ज्ञान कहते हैं। वह जीव का गुण है। जीव, अजीव आदि तत्त्वोंमें होनेवाली जीवको रुचिकी दर्शन कहते है। वह जीवको मोक्षकी ओर प्रेरित करने का साधन है। दूसरे शब्दों मे मोक्षका प्रथम सोपान है। जीव अपनी शुद्धिके लिए उत्कृष्टतम आचारका पालन करता है, वह चारित्र है। उसके द्वारा भविष्यमें लगनेवाला कर्म-मल रुक जाता है, अतः उसे संयम भी कहते हैं। जीवकी सामर्थ्यको—शक्तिको वीर्य-आत्मा कहते हैं। उसके द्वारा जीवमें उत्साह और प्रत्येक कार्य का सम्पादन होता है।

यहापर आत्मा शब्दका व्यवहार जीव और जीवकी अवस्था, इन दोनों अर्थोंमें हुआ है। जैसे द्रव्य-अत्मा जीवकी सूचक है और बाकी आत्माएं जीवकी अवस्थाओंकी सूचक हैं। इन सातों को भावात्मा भी कहते है।

अभ्यास

१—आठों आत्माओं द्वारा जीवकी प्रवृत्तियां किस किस प्रकारकी होती है?

२—आत्मा के कितने प्रदेश है?

३—प्रदेशो के स्वरूप व कार्य क्या है?

(३८)

कर्म जड़ हैं

प्रश्न—कर्म जड़ हैं, तब वे यथोचित फल कैसे दे सकते हैं ?

उत्तर—यह ठीक है कि कर्म-पुद्गल यह नहीं जानते कि अमुक आत्माने यह काम किया है। अतः उसे यह फल दिया जाय परन्तु आत्म-क्रियाके द्वारा जो शुभाशुभ पुद्गल आकृष्ट होते हैं, उनके संयोगसे आत्माकी वैसी ही परिणति हो जाती है, जिससे आत्माको उसके अनुसार फल मिल जाता है। शराबको नशा लानेकी ताकतका कब अनुभव होता है और विषने मारनेकी बात कब सीखी ? फिर भी शराब पीनेसे नशा होता है और विष खानेसे मृत्यु। पथ्य भोजन आरोग्य देना नहीं जानता और दवा रोग मिटाना नहीं जानती, फिर भी पथ्य भोजनसे स्वास्थ्य-लाभ होता है और औषधि-सेवनसे रोग मिटता है। बाह्य रूपसे ग्रहण किये हुए पुद्गलोंका जब इतना

असर होता है तो आन्तरिक प्रवृत्तिसे गृहित कर्म-पुद्गलों का आत्मा पर असर होनेमें सन्देह कैसा ? उचित साधनों के सहयोगसे विष और औषधिकी शक्तिमें परिवर्तन किया जा सकता है, वैसे ही तपस्या आदि साधनोंसे कर्मकी फल देनेकी शक्तिमें भी परिवर्तन किया जा सकता है। अधिक स्थितिवाले एवं तीव्र फल देनेवाले कर्ममें भी उनकी स्थिति और फल देनेकी शक्तिमें अपवर्तनाके द्वारा न्यूनता की जा सकती है।

प्रश्न—प्रत्येक आत्मा सुख चाहती है, दुःख नहीं तो फिर वह पापका फल स्वयं क्यों भोगेगी ?

उत्तर—इस पर इतना ही कहना काफी होगा कि सुख और दुःख आत्माके पुण्य-पापके अनुसार मिलते हैं या चाहनेके अनुसार ? यदि चाहनेके अनुसार मिलें तब तो कर्म कोई चीज ही नहीं। बस, कुछ इच्छाकी वही मिल गया। ऐसी हालतमें तो बस इच्छा ही सार है, चाहे उसे चिन्तामणि कहें, चाहे कल्पवृक्ष। यदि कर्म कोई वस्तु है तब तो उसके अनुसार ही फल मिलेगा। अच्छे कर्मका अच्छा फल होगा, बुरेका बुरा। "बुद्धि कर्मानुसारिणी" इस छोटेसे वाक्यसे यह विषय और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। जैसा कर्म होता है वैसी ही बुद्धि हो जाती है, जैसी बुद्धि होती है वैसा ही काम किया जाता है और जैसा काम किया जाता है वैसा ही फल मिलता है।

अतएव कर्मका फल भोगनेमें किसी न्यायधीशकी जरूरत नहीं। एक मनुष्य अपने पूर्वकृत कर्मोंके बल पर हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है; व्यभिचार-दुराचार-सेवन करता है, न्यायाधीश (ईश्वर) का क्या काम बिगाड़ता था कि वह उन्हें कर्मका फल देनेको इन निन्दनीय कार्योंमें प्रवृत्त करे? न्यायाधीश तो बुरी आदतों को छुड़ानेके लिए कर्मका फल देता है तो फिर हिंसा चोरी आदिसे कर्मफल भुगतानेका तरीका क्यों पसन्द किया गया उस परम दयालु न्यायाधीश ईश्वरके द्वारा?

अभ्यास

—सुख चाहनेवाली आत्मा स्वयं पापका (दुःखरूप) फल क्यों भोगती है?

—क्या कर्म-फल अन्यथा भी किया जा सकता है?

—क्या पुद्गलोंमें ज्ञान होता है जिससे कि वे यथाकार्य फल दे सकें?

(३९)

पट्टोत्सव

भाद्रवी पूनम भावी, आवी साव नजीक।
नियता पूज्य पटोत्सवे, तेह थी तिथि मंगलीक॥ १॥
द्वितीया थी प्रारम्भी, लम्बी जेह्नी लीक।
सो सावत द्विव ऊगसे, रोहिणी धव, रमणीक॥ २॥
नव नव मानव धावै, आवै ओच्छव स्थान।
हेतु भव-भ्रम नाशिवा, प्रभु-पद-स्पर्शन मान॥ ३॥
वलि वामा अभिरामा, स्वामी नै दरबार।
धावै गृहकामा तजी, सभी सघन मन प्यार॥ ४॥
इह अवसर श्री कालू, झालू डालू पाट।
सपरिवार पधारिया, सूरी-जन सम्राट॥ ५॥
उच्चासन अधिराजै, छाजै छवि अद्भूत।
पुण्य पुंज अथवा भयो, प्रभु-जस पिण्डीभूत॥ ६॥
मानूं भानू संगे, धरतो शशधर खार।
विजय लही दिहे अवतर्‌यो, सह मुनिगण ग्रह तार॥ ७॥

एकणपासै भासै, सौम्य श्रमण समुदाय ।
श्रमणी श्रावक-श्रविका, तिम निज पद सोभाय ॥ ८ ॥
एहवो निरुपम निरखी, मण्डपनो निर्माण ।
नित-प्रति नभ अवगाहिवूं, सफल गिण्यो निज भाण ॥ ९ ॥
शेष-नाग अनुरागे, समरी पूनम दृश्य ।
डगमग मस्तक डोलिवै, हुवै भूकम्प अदृश्य ॥ १० ॥
निज सुकृत सम सिततम, प्रवर पछेवड़ि एक ।
मुनिवर प्रधरावी नवी, करियो पद-अभिषेक ॥ ११ ॥
डोले डपटी दुपटी, दीपै धवल प्रकाश ।
पूज्य - वदन रयणीधणी, प्रगटी ज्योत्स्ना जास ॥ १२ ॥
नव-शासन-धव-स्तवना, भव नाशननै हेत ।
गावै हुलसावै गुणी, श्रमणी श्रमण सचेत ॥ १३ ॥
चिहुं तीरथ इम समुदित, प्रमुदित बोलै वाय ।
भाग्य-दशा जागी भली, बढ़भागी गुरु पाय ॥ १४ ॥
जय जय नन्दा भद्दा, भद्दं ते चिरकाल ।
अणजीता जीती करो, जीतांनी रिछपाल ॥ १५ ॥
स्वर्गे अनिमिपवर्गे, जेम तविस सिरताज ।
असुराधिप असुरानमें, उडुगणमें उडुराज ॥ १६ ॥
तिम तुम प्रतपो व्रतपो-षित नित दीनदयाल ।
भैक्षव-गण-गोकुल तणा, हे गणिवर गोवाल ॥ १७ ॥
क्रोड़ . . वर्ष क्रोड़ीकृत, सूरी पदनी शोड़ ।
शासन-मोड़ अखी रहो, जिम नव अंकनी जोड़ ॥ १८ ॥

ईडा पीडा अलगी, विलगो व्रीडा धार।
गन उपवनमाही करो, क्रीडा नित अविकार ॥ १९ ॥
आशीर्वाद निनादे, नादै दिग्गज नाद।
मनु अनुरागी रागमें, राग मिलावै साद ॥ २० ॥
नव गुञ्जारव निसुणी, करिवा मनु पहिछाण।
आवै नरलोके सुरा, नन्दन-वन मिस ठाण ॥ २१ ॥
इम उत्कृष्ट हगामै, पाट-महोत्सव-ठाट।
चन्देरी नगरी तदा, सुरपुरी थी शू घाट ॥ २२ ॥
करसे राज अचक्कां, छक्कं छक्का देव।
तिह हित वे छका मिल्या, छासट्ठै स्वयमेव ॥ २३ ॥
दाखी दिल बिच राखो, श्री गुरुदेव दयाल।
कालू - यशोविलासनी, ए द्वादशमी ढाल ॥ २४ ॥

अभ्यास

१—श्रीकालूगणीकी पट्टोत्सव-तिथि कबकी थी ?
२—इस गीतिकामें उनकी किन किनसे तुलनाकी गई है ?
३—दसवे पद्यमें की गई कल्पनाकी विवेचना कीजिये।

४०

सूक्तियाँ

बुद्धि का सार

बुद्धि वाहि सराहिए, जो सेवे जिन-धर्म।
वा बुद्धि किण कामरी, जो पडिया बांधे कर्म॥

सच्चा बीर

गमतो अणगमतो हुवै, उपसर्ग उपजै आय।
सूर पुरुष सामां मंडै, कायर भागी जाय॥
समदृष्टि विवश हुवै, पालै व्रत अभंग।
ज्यूँ-ज्यूँ परिषा ऊपजै, तिम २ चढते रङ्ग॥
बैरी ते लारे पड्या, भाग्यां भलो न होय।
पग रोपी सामो मंडै, तो गंज न सकै कोय॥
जैसो गोलो मैण रो, तप लग्यां गल जाय।
कायर पुरुष स्त्री कन्हें, तुरत डिगे छिण मांय॥
जैसो गोलो गारको, ज्यूं धमे ज्यूं लाल।
ज्यूं शूर पुरुष स्त्री कन्हें, अडिग रहे व्रत झाल॥

निजगुण और परगुण

निज गुण फिरे ने पर गुण झर पड़े,
ते पर गुण पुद्गल जाण।
पर गुण झरिया निज गुण हुवै निर्मलो,
आ श्रद्धा घट में आण॥
अशुद्ध निज गुण फिरिया शुद्ध निज गुण हुवै,
ते पर गुण कर दे दूर।
शुद्ध निज गुण फिरिया अशुद्ध निज गुण हुवै,
तिण सूँ पर गुण लागे पूर॥
जे मैला निज गुण मोहकर्म वसे,
त्यां निज गुण स्यू पाप बंधाय।
मोह रहित निज गुण हुवै निर्मला,
त्या सूँ पर गुण दूर पलाय॥
सात कर्म सूं निज गुण मैला हुवे,
त्यां सू पाप न लागे तास।
ते करम झर्‌यां हुवै निज गुण निर्मला,
त्यांरा गुण निपन छै नाम॥
आठ कर्म उदय हुवा निपजै,
निज गुण उदय भाव अनेक।
आठ कर्मां ने क्षय कीधाँ नीपना,
निज गुण क्षायक भाव विशेष॥

च्यार कर्म क्षय उपशम कीयाँ नीपजै,
निज गुण क्षय उपसम भाव।
मोह कर्म उपसमियाँ प्रगटे,
निज गुण उपसम भाव॥
ये च्यारूँ ही भाव परिणामिक जीव छै,
ते चेतन निज गुण पर्याय।
एं भाव फिरे पिण द्रव्य फिरे नहीं,
ते पिण सुणज्यो न्याय॥
तत्त्व शुद्ध सरध्यां हुवे जीव समकिती,
ऊँधा सरध्यां मिथ्याती थाय।
ओहिज ज्ञानी रो अज्ञानी हुवे,
अज्ञानी रो ज्ञानी हो जाय॥
नारकी ने देवता रो मिनख तिर्यञ्च हुवे,
मिनख तिर्यंचनो देव थाय।
इत्यादिक जीवरा भाव अनेक छै,
ते और रो और होय जाय॥

अभ्यास

१—सच्चा वीर किसे कहना चाहिए ?
२—पाप किन कर्मोंसे लगता है ?
३—सराहनीय बुद्धि कौन सी है ?

(४१)

सिद्ध-संसारी

प्रत्येक वस्तुमे जो कोई पृथक्त्व है, वह उनकी असमानताके कारण ही पाया जाता है। असमानता विजातीय वस्तुओंमें मिले, उसमे तो आश्चर्य ही क्या? किन्तु सजातीय वस्तुओंमें भी उपलब्ध होती है और इसीके आधार पर एक जातीय वस्तुओंके भी पृथक्-पृथक् वर्गीकरण किये जाते है।

जीवका लक्षण चेतना—उपयोग है। वह जीवमात्रमें मिलता है। सामान्य चैतन्यकी दृष्टिसे सब जीव समान है;—एक जातीय हैं। पर आत्म-शुद्धि सबमें एक सरीखी नहीं मिलती। इसलिए जीवोंके दो वर्ग किये गये हैं—"संसारिणो मुक्ताश्च"—सिद्ध जीव और संसारी जीव। जो आत्माएं कर्म-फलको धो-माजकर पूर्ण-रूपेण उज्ज्वल बन जाती है, उन्हें सिद्ध कहते है। ऐसी आत्माएं अनन्त है।

सिद्ध लोकके उपरितन प्रान्त—भागमें रहते हैं। उनके जन्म,

जरा, मृत्यु, रोग, शोक, भय आदि कुछ भी नहीं होते। प्रत्येक सिद्धका आत्म-विकास समान होता है। सिद्धोंके* पन्द्रह भेद चरम-संसार-अवस्थाकी अपेक्षासे किये जाते हैं। जैसे—गृहस्थ के वेषमें मुक्ति पानेवाले गृहलिङ्गसिद्ध, जैन मुनिके वेषमें मुक्ति पानेवाले स्वलिङ्गसिद्ध और अन्य साधुओंके वेषमें मुक्ति पानेवाले अन्यलिङ्गसिद्ध कहलाते हैं। ऐसे ही स्त्रीजन्म, पुरुषजन्म एवं कृत्रिम नपुंसकतासे मुक्त होनेवाले क्रमशः स्त्रीसिद्ध, पुरुषसिद्ध एवं नपुंसकसिद्ध कहलाते हैं। सिद्ध होनेके पश्चात् उनका संसारचक्र सदाके लिए मिट जाता है।

"दग्धे बीजे यथात्यत्यं, प्रादुर्भवति नाङ्कुर ।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥"

जलाकर खाक किये हुए बीजमे अङ्कुर पैदा नहीं होता। वैसे ही कर्मबीज दग्ध हो जाने पर आत्मामें भव (जन्म-मृत्यु-परम्परा) अङ्कुर पैदा नहीं होता।

जिन पर कर्म-मल लगा हुआ होता है, वे जीव संसारी कहलाते हैं। संसारी जीव विविध प्रकारके कर्म-पुद्गलोंसे जकड़े हुए होते हैं इसलिए उनकी स्थिति एक-सी नहीं होती। कोई जीव एक-इन्द्रियवाला होता है तो कोई पांच इन्द्रियवाला, कोई त्रस, कोई स्थावर, कोई समनस्क, कोई अमनस्क। इस प्रकार संसारी जीवोंकी अनगिनत श्रेणियां की जा सकती हैं।

---

* तीर्थातीर्थतीर्थङ्करस्वान्यगृहस्त्रीपुनपुंसकलिङ्ग प्रत्येकबुद्धस्वयबुद्धबुद्ध-बोधितैकानेकसिद्धभेदात् पञ्चदशधा।

अभ्यास

१—जीवत्वकी दृष्टिसे समान होते हुए भी जीवोंके दो भेद क्यों ?

२—सिद्धोंका स्थान कौन सा है ?

३—सिद्ध होनेके बाद जीव वापिस संसारमें क्यों नहीं आते ?

४—संसारी जीव किसे कहते है ?

४२

सो ही तेरापंथ पावै

आप हणै नहीं प्राणकूं, नहीं कहिनै हणावै। (हो)
हणतांनें भलो न चिन्तवै, ऐसी दया पलावै ॥ (हो)
सो ही तेरापंथ पावै (हो) ॥१॥

के तो मून ग्रही रहे, कै निरवद्य वावै।
सावज काम संसारका, तेतो चित्तमें न चावै ॥
सो ही तेरापंथ पावै ॥ २ ॥

जाच्यां बिन एक तिणकलो, करसूं नांहि उठावै।
भोग तज्या भामण तणां, माठी नजर न ल्यावै ॥
सो ही तेरापंथ पावै ॥ ३ ॥

रत्न अनै कवडी भणी, नहीं राखै रखावै।
जे जे उपग्रण जिण कह्या, तिणसूं अधिक न ल्यावै ॥
सो ही तेरापंथ पावै ॥ ४ ॥

पञ्च महाव्रत पालता, नवविध शील पलावै ।
सुमति गुप्त बारह भेदसूं, पूरव कर्म खपावै ॥
सो ही तेरापंथ पावै ॥ ५ ॥

संजम सतरह भेदसूं, रुड़ीरीत निभावै ।
परिषह आयां संग्राममें सुरा जिम साहमा धावै ॥
सो ही तेरापंथ पावै ॥ ६ ॥

अनाचार बावन तजै, गुण सत्तावीस पावै ।
दोष बयालिस टालके, असणादिक ल्यावै ॥
सोही तेरापंथ पावै ॥ ७ ॥

काज अनागत कारणे, तिण दिशि नहीं धावै ।
ताक २ तेरापन्थी, ताजा घर नहीं जावै ॥
सोही तेरापन्थ पावै ॥ ८ ॥

निन्दत छेदत ज्यो कोई, तिणसूं नाहीं रिसावै ।
कोईके दाता दानको, तिणसूं राग न ल्यावै ॥
सोही तेरापंथ पावै ॥ ९ ॥

कमल कादासे दूर रहै, जिम जगमें नाहि छिपावै ।
थापी थानक छाड़ ने, वासा दूर दिरावै ॥
सोही तेरापंथ पावै ॥ १० ॥

हिंसा धर्म उड़ायनै, दया धर्म दिपावै ।
जहां २ छै जिनजी आज्ञा, तिणमें धर्म बतावै ॥
सोही तेरापंथ पावै ॥ ११ ॥

सूत्तरमें जिन भाषियो, तेहनै दान दिरावै।
दान कुपातरनें दीयां, देतां आडा न आवै॥
सोही तेरापंथ पावै॥ १२॥

बरजणो तो जिहांही रह्यो, मुनि बहिरण जावै।
देखत सुनत फकीरको, तो पाछो फिर आवै॥
सोही तेरापंथ पावै॥ १३॥

नव तत्त्व निर्णय नित करै, सम्मकित नै सरधावै।
मुक्ति नगर मुशकिल घणों, तिणरो मार्ग बतावै॥
सोही तेरापंथ पावै॥ १४॥

तेरा वचन विसासन, सूतर सीखै सिखावै।
तिण वयणांसूं भरतमें, भवियण को चलावै॥
सोही तेरापंथ पावै॥ १५॥

आपै समकित औषधी, वैद भोजन पचावै।
तेरापन्थी बैद ज्यों, धर्म-भोजन रुचावै॥
सोही तेरापंथ पावै॥ १६॥

मैल खोट प्रतें काढ़वा, सोनो सोनी तावै।
ज्यूं तेरापन्थी परखियां, हृदय न्याय ल्यावै॥
सोही तेरापंथ पावै॥ १७॥

तेरापंथ ओलख्यां पाछै, दूजा दाय न आवै।
अमृत भोजन जीमियां, कुंकस कुणखावै॥
सोही तेरापंथ पावै॥ १८॥

कहैं कथादि वारता, सूत्तर सू मिलावै।
तुझ वचनांसे नहीं मिलै, ताकूं तुरत उडावै॥
सोही तेरापंथ पावै॥ १६॥

सूत्र न्याये पाखण्ड भणी, भीखनजी ओलखावै।
तेरापन्थ ते धारियो, दया धर्म बतावै॥
सोही तेरापन्थ पावै॥ २०॥

भीखणजी, तेरापंथी, तिणमें अै गुणपावै।
प्रभू तेरापंथरा, शोभो गुण गावै॥
सोही तेरापंथ पावै॥ २१॥

अभ्यास

१—तेरापन्थ-प्राप्तिका हक़दार कौन हो सकता है ?
२—क्या इस गीतिकाके रचयिताका कुछ परिचय दे सकते हो ?
३—इसके अठारहवें पद्य का क्या तात्पर्य ?

४२

सम्यक्त्व

लक्ष्य तक पहुंचनेका सबसे बड़ा उपाय विश्वास है। प्रत्येक कार्य-क्षेत्रमें उसका सर्वोपरि महत्त्व है। धर्म-क्षेत्रमें तो वह सब साधनोंका मूल माना गया है। परन्तु वह मूल्यवान् तब ही हो सकता है जबकि वह सत्य हो। मिथ्या विश्वाससे तो मनुष्यों की अधोगति होती है। जैन दर्शनने मोक्षके चार साधन माने हैं; उनमें पहला स्थान सम्यग् दर्शनका है। सम्यग् दर्शनका अर्थ है—सत्यमें विश्वास। जैन-सिद्धान्त-दीपिकामें इसकी परिभाषा करते हुए बताया गया है कि—"यथार्थ तत्त्व श्रद्धा सम्यक्त्वम्" जो वस्तुएं जैसी हैं, उन पर वैसा ही विश्वास करना सम्यक्त्व – सत्यपर विश्वास है।

सम्यक्त्व धर्मका अविच्छिन्न अङ्ग है इसलिये हमारा ध्यान धर्म-क्षेत्रकी ओर केन्द्रित होता है। धार्मिक जगत्में देव, गुरु और धर्म ये तीन तत्त्व, जिनको रत्नत्रयी कहते हैं; मुख्य माने जाते हैं। सम्यक्त्वकी प्राप्ति इन्हींके निर्णय पर अवलम्बित है। वही प्राणी सम्यक्त्व पा सकता है, जो इन तीनोंको सत्यकी कसौटीपर कस कर दृढनिश्चयी हो जाता है।

दर्शनके संस्थापकको देव कहते हैं। वे सर्वज्ञ होने चाहियें; जैसे कि—"केवलज्ञानवानर्हन् देवः।" सर्वज्ञ हुए विना पदार्थों का यथा-स्थित निरूपण नहीं किया जा सकता और उस (यथार्थ—निरूपण) के विना संसार, मोक्ष आदिका कुछ भी पता नहीं चलता, जो सर्वज्ञ होते है, वे वीतराग अवश्य होंगे। क्योंकि राग-द्वेप पर विजय पाये विना कोई भी सर्वज्ञ नहीं बन सकता।

सर्वज्ञ-भापित धर्मके उपदेशक एवं पांच महाव्रतोंके पालनेवाले साधु गुरु कहलाते हैं। कहा भी है—"महाव्रतधरः साधुर्गुरुः" वीतरागका दिया हुआ अहिंसात्मक उपदेश ही धर्म है। धर्म तत्त्वमे समाया है। आवश्यकता सूत्रकी एक गाथामे बड़े सरल शब्दोंमे कहा है—

अरिहन्तो महदेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपणत्तं तत्तं, इयं सम्मत्तं मए गहियं॥

अर्थात्—अरिहन्त वीतराग हमारे देव हैं, सुसाधु हमारे गुरु है, जिन-सर्वज्ञोंने जो उपदेश दिया है, वह हमारा तत्त्व है। इस प्रकार जिसमें सत्य, देव, गुरु एवं तत्त्व पर विश्वास किया जाता है, वह सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है।

अभ्यास

१—जैन-धर्ममें सम्यक्त्वका महत्त्व क्यों हैं?
२—धर्मकी क्या परिभापा है?
३—रत्नत्रयी किसे कहते हैं?

४४

मिथ्यात्वी

जो प्रकाशको जानता है, वह अन्धकारको अपने आप जान लेगा। सम्यक्त्वीको जान लेनेके बाद मिथ्यात्वीको पहचानना कोई कठिन नहीं। फिर भी इस पर एक सरसरी दृष्टि डाल लेनी चाहिए। विश्वासके बिना मनुष्य कही भी सफल नही हो सकता। प्रत्येक कार्यमें विश्वास होना उसकी सफलताका शुभचिह्न माना गया है। पर वह (विश्वास) सत्य-होना चाहिए, ज्ञानपूर्वक यानी जिज्ञासाके साथ साथ होना चाहिए। कोरा अंधविश्वास लाभके बदले हानि अधिक कर सकता है।

धर्म-मार्गमें सत्य-विषयक विश्वासको ही मोक्षका उपाय बतलाया है। असत्य एवं विपरीत विश्वास मिथ्यात्व माना गया है, यथा—"विपरीत तत्त्वश्रद्धा मिथ्यात्वम्।" आध्यात्मिक दृष्टि-कोणसे उसके दश प्रकार किये गये हैं, जैसे—

धर्मको अधर्म एवं अधर्मको धर्म समझना।
साधुको असाधु एवं असाधुको साधु समझना।
मार्गको कुमार्ग एवं कुमार्गको मार्ग समझना।
जीवको अजीव एवं अजीवको जीव समझना।
मुक्तको अमुक्त एवं अमुक्तको मुक्त समझना।

धर्म वह है, जिसके द्वारा मोक्षकी साधना की जा सके। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों को पालनेवाले साधु होते हैं। जिस तपस्याके द्वारा आत्मा उज्ज्वल हो, वह मार्ग है। जिसमें जाननेकी—अनुभव करने की शक्ति हो, वह जीव है। जिस आत्माका कर्म-मल—आवरण सर्वथा दूर हो जाता है, वह मुक्त कहलाता है।

जीव मूल तत्त्व है। धर्म और मार्ग ये दो जीवकी विशुद्धि के साधन है। साधु साधनाका अग्रदूत है और मोक्ष साधना का अन्तिम एवं सर्वोत्कृष्ट फल है। इन सब पर यथार्थ श्रद्धा न रखनेवाले व्यक्ति मिथ्यात्वी कहलाते है। जैन-दर्शनमे मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्वका सिद्धान्त किन्हीं पर आक्षेप करने या स्वयंको उत्कृष्ट बतलानेके लिये नहीं रचा गया है। यह तो गुणागुण पर आश्रित है। जिन व्यक्तियोंमें सम्यक् श्रद्धा (सत्य-विश्वास) मिले, वे सम्यक्त्वी और जिनमें न मिले, वे मिथ्यात्वी है। सम्यक्त्वी गुरु आदिके द्वारा ज्ञान प्राप्त करके बन सकता है एवं आत्म-शुद्धि होते-होते अपने आप भी। मिथ्यात्वी भी कई २ प्रबल कर्मोदयसे अत्यधिक कषायरत एवं विपरीत तत्त्वोंके

पक्षपाती होते हैं जो आभिग्रहिक (दुराग्रही) कहे जाते हैं और कई अनाभिग्रहिक होते हैं यानी उन्हें सत्य-तत्त्व-परीक्षाका अवसर न मिलनेके कारण ही वे मिथ्यात्वी पड़े हैं किन्तु उनमें असत्यका कोई पक्षपात नहीं है।

मिथ्यात्वी सब बातोंमें भ्रान्त रहते हैं एवं उनकी धार्मिक प्रवृत्तियां भी लाभदायक नहीं, ऐसा मानना एकान्त भ्रम है। बहुधा यह पूछ लिया जाता है कि अमुक व्यक्ति सम्यक्त्वी है या मिथ्यात्वी? पर यह कोई पूछनेका विषय नहीं, यह तो अनुभव-गम्य है। निश्चय दृष्टिकी तो कौन कहे, व्यवहारमें मिथ्यात्वी एवं सम्यक्त्वीको पहचानके लिये भिन्न २ लक्षण बतलाये गये हैं। जिनमें जैसे लक्षण मिलते हैं, उन्हें वैसा ही समझ लेना चाहिये।

अभ्यास

१—मिथ्यात्वी किसे कहते हैं?

२—सही बातको उल्टी जानना मिथ्यात्व है या नहीं जानना भी मिथ्यात्व है?

३—निश्चय-पूर्वक हम किसीको मिथ्यात्वी कह सकते है या नही?

४—मिथ्यात्वके कितने प्रकार हैं?

५—क्या मिथ्यात्वीकी धार्मिक क्रियाएँ धर्म नहीं हैं?

४५

सम्यक्त्वी कौन ?

सम्यक्त्वी प्राणी अनन्तानुबन्धी कषायसे विमुख हो जाते हैं। उनके हृदयमें तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं रहते। सम्यक्त्वका हृदयकी सरलता एवं निर्मलतासे बहुत सम्बन्ध है। जिनके राग-द्वेष-भावना प्रबल होती है, उनमें यथार्थ-तत्त्व-श्रद्धा नहीं हो सकती। कई व्यक्ति गुरु आदिका उपदेश सुनकर राग-द्वेषका उपशम करते हुए सम्यक्त्व-लाभ करते है। और कई स्वयं राग-द्वेषको उपशान्त करते हुए अपनी निर्मलता के कारण सत्य मार्गको पकड़लेते हैं—उनमे सम्यक्त्वका अंकुर फूट पड़ता है।

सम्यक्त्व एक गुणप्रधान वस्तु है। वह किसी जाति, समाज एवं व्यक्तिविशेषके कारण प्राप्त नहीं होता। केवल आत्म-शुद्धिसे क्रोध आदिका उचित उपशम होनेसे ही प्राप्त होता है। इसीलिए सम्यक्त्वीकी पहचानके लिए पाँच गुणात्मक लक्षण बतलाये हैं—

१ शम—जिन्होंने क्रोध, मान, माया एवं लोभका उपशमन किया हो।

२ संवेग—जो संसारसे उदासीन रहते हों।

३ निर्वेद—जिनमें मोक्षकी भावना रहती हो।

४ अनुकम्पा—जो प्राणीमात्रको आत्मतुल्य समझते हों—जिनके हृदयमें समताके—अहिंसाके भाव भरे हुए हों।

५ आस्तिक्य—जो आत्मा, परलोक, धर्म एवं कर्म पर विश्वास करते हों।

उन्हें सम्यक्त्वी समझना चाहिए।

सम्यक्त्व आत्मीय गुण है। वह हमें दिखलाई नहीं देता तो भी जिस प्रकार धुएँके द्वारा अदृश्य अग्निका पता चल जाता है, वैसे ही इन पाँच लक्षणोंसे अदृश्य सम्यक्त्वको भी हम जान सकते हैं।

सम्यक्त्वके पाँच दोष होते हैं। उनका आचरण करनेवाले सम्यक्त्वसे च्युत हुए बिना नहीं रहते। इसलिए सम्यक्त्वी इन * दोषोंसे बचकर रहे।

१ शङ्का—वीतरागके वचनोंमें सन्देह करना।

२ आकाङ्क्षा—पालनेमें सरल किन्तु हिंसात्मक हो, ऐसे धर्मकी अभिलाषा करना।

३ विचिकित्सा—धर्मके फलमें सन्देह करना।

---

* शङ्काकाङ्क्षा विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिप्रशसनम्।
तत्सस्तवश्च पञ्चापि, सम्यक्त्व दूषयन्त्यलम्॥

४ परपाखण्डिप्रशंसा और परपाखण्डिसंस्तव—भ्रष्टाचारियों की वैसी प्रशंसा और वैसा संपर्क करना जिससे भ्रष्टाचारको प्रोत्साहन मिले।

इन आत्मघाती दोषोंसे दूर रहनेवाले व्यक्तिको सम्यक्त्वकी पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ सम्यक्त्वी समझना चाहिए।

जो सम्यक्त्वी उक्त पाँच नियमोंमें शिथिलता दिखलाये, वह सम्यक्त्वकी उच्च निष्ठाको नहीं छू सकता। सम्यक्त्वीके पाँच * भूषण होते—

१ स्थैर्य—जिन भगवान् द्वारा कथित धर्ममें स्वयं स्थिर रहना और दूसरोंको स्थिर करनेका प्रयत्न करना।

२ प्रभावना—जिन-शासनके बारेमें फैली हुई भ्रान्त धारणाओंका निराकरण करना और उसके महत्त्वको प्रकाश में लाना।

३ भक्ति—जिन शासनकी भक्ति या बहुमान करना।

४ कौशल—जिन-भगवानों द्वारा कथित तत्त्वोंको समझने और समझानेमें निपुणता प्राप्त करना।

५ तीर्थ-सेवा—साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका ये चार तीर्थ है। उनकी यथोचित निरवद्य सेवा करना।

सम्यक्त्वको स्थिर रखनेके लिये छह स्थानोंको जानना भी आवश्यक है, जैसे—

---

* स्थैर्यं प्रभावना भक्ति, कौशलं जिनशासने।
तीर्थसेवा च पञ्चास्य, भूषणानि प्रचक्षते॥

१—आत्मा है।

२—आत्मा द्रव्यरूपसे नित्य है।

३—आत्मा अपने कर्मोंका कर्ता है।

४—आत्मा अपने कृत-कर्म-फलको भोगता है।

५—आत्मा कर्म-मलसे मुक्त होता है।

६—उसके मुक्त होनेके उपाय हैं।

अभ्यास

१ सम्यक्त्वीकी पहचान कैसे की जा सकती है?

२ क्या परपाखण्डिसंस्तवसे सम्यक्त्वमें वाधा आती है? यदि हाँ तो क्यों?

३ सम्यक्त्वको दृढ़ रखनेवाले कौनसे छह उपाय हैं?

४ क्या सम्यक्त्वी तीव्र क्रोध नहीं करता?

४६

भगवान् महावीर और गोशालक (प्रथमांश)

भगवन महावीर ने दूसरा चातुर्मास राजगृहकी वाहरिका (उपनगर) नालन्दामें एक तन्तुवाय-शालामें कियाथा। उसी तन्तुवाय-शालामें गोशालक नामक मंख यानी डाकोत जातिका एक युवा भिक्षुक वर्षाकाल वितानेकेलिए ठहरा हुआथा। इस इस चातुर्मासमें भगवान् एक मास-मासकी तपस्या करतेथे। भगवान्की तपस्या एवं अन्यान्य गुणोंसे वह प्रभावित हुआ। और उसने भगवान्का शिष्य होनेका निश्चय करलिया। वह भगवान् महावीरके निकट आकर वोला—भगवान्! मैं आपका शिष्य होना चाहताहूं। भगवान्ने इसका उत्तर नहीं दिया और इसे मनमेंभी अच्छा नहीं समझा। चातुर्मास पूरा होतेही भगवान्ने नालन्दासे विहार कर राजगृहके समीप कोल्लाग-सन्निवेश में जाकर वहुल ब्राह्मणके यहाँ मास-क्षमणका पारणा किया।

नालन्दासे जव भगवान्ने विहार किया तव गोशालक भिक्षा

लाने गयाहुआथा। भिक्षासे निवटकर वापिस शालामें आया तो उसे वहाँ भगवान् महावीर न मिले। उसने महावीरकी खोजमें नालन्दाकी गली-गली छान डाली तो भी महावीरका पता न चला। वह वापिस उसी शालामें लौट आया और अपने आजीविकाके साधन ब्राह्मणोंको अर्पण कर शिर मुण्डवाकर महावीरकी खोजमें निकल पड़ा। राजगृहके शाखापुरोंमें घुमताहुआ मंखलिपुत्र कोल्लाग-सन्निवेश पहुंचा।

उसने वहाँ तपस्या और पारण करानेके फलकी चर्चा सुनी तो सोचा कि यह सब देवार्य महावीरकी चर्चाएं हैं। अवश्य ही महावीर यहाँ होने चाहिए। वह गाँवमें जारहा था कि भगवान् गांवसे लौटतेहुए उसे रास्तेमें मिलगये। गोशालकने झट नमस्कार किया और हाथ जोड़कर बोला—भगवान्! आप मेरे धर्माचार्य हैं और मैं आपका शिष्य हूं। बार-बार इस प्रकार अनुनय-विनय करने पर भगवान्ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करली। छद्मस्थ तीर्थङ्कर किसीको भी शिष्य नहीं बनाते तोभी भगवान्ने उसके अधिक आग्रह एवं वैसी ही भवितव्यताके कारण उसे शिष्य बना लिया।

गोशालक शुरूसे ही अविनीत और कुतुहली था। उसे जो कोई नई बात मालूम देती, वह उसी क्षण भगवान्से पूछ लेता और भगवान् जोभी उत्तर देते, उससे उल्टी करनेकी चेष्टा करता। तरह-तरहकी चेष्टाएँ करने पर भी वह झूठा नहीं होता तो वह नियतिवादकी ओर झुक जाता। बहुतसे मौकोंसे उसकी यह

धारणा मजबूत होती चलीगई कि जगत्मे जो वास्तविक तथ्य है तो होनहार ही है।

त्रि० पृ० ५०३ मे एकवार भगवान् महावीर और गोशालक सिद्धार्थपुरसे कूर्म-ग्राम जा रहे थे। मार्ग पर एक तिलस्तम्बको देखकर गोशालकने पूछा—भगवान्! क्या यह तिलस्तम्ब निपजेगा ? भगवान्ने कहा—हाँ निपजेगा और यह सातों ही फूलोंके जीव एक कलीमे सात तिल होंगे। भगवान् अव आगे पधार गये और उसने वहीं ठहरकर उस तिलस्तम्बको उखाड़ कर फेंक दिया।

कूर्म-ग्रामके वाहर वैश्यायन नामक तपस्वी जो धूपमें औंधे माथे लटकता हुआ तपस्या कर रहा था, उसकी जटाओंमेसे जुएं गिर रही थीं। वह पकड़ पकड़कर पुनः अपनी जटाओंमे डाल रहा था। गोशालक यह देखकर वोला—अरे! जुओंका शैय्यातर—स्थान देनेवाला यह कौन है ? गोशालक वार वार उसपर यों आक्षेप करता रहा। वैश्यायन कई वार तो सुनता रहा पर आखिर वह क्रुध हो उठा और उसने गोशालक पर अपनी उष्ण-तेजो-लेश्या छोडी। परन्तु भगवान्ने शीतल तेजो-लेश्या छोड़कर अपने शिष्यको वचा लिया। वैश्यायन भगवान्से बोला—भगवन्! आपको जान लिया २। गोशालक उसकी वात न समझता हुआ वोला—यह जुंओंका शैय्यातर क्या कह रहा है भगवन्! भगवान्ने कहा—इसने तेरे पर उष्ण-तेजो-लेश्या छोड़ी थी और मैंने शीतल-तेजो-लेश्या छोड़कर तेरेको बचा लिया। इसलिए यह तापस कह रहा कि भगवन्! मैंने आपको जान लिया।

उष्ण-तेजो-लेश्याकी बातसे वह डरा और बोला भगवन् ! यह कैसे प्रगट होती है ? भगवान्ने कहा—जो मनुष्य छः महीनों तक निरन्तर बेले-बेले (लगातार दो उपवास) की तपस्याके साथ सूरजके सामने दृष्टि रखकर खड़ा २ आतापना करता है और उबाले हुए मुट्ठी भर उर्द एवं चुल्लू भर गर्म पानीसे पारणा करता है, उसको तेजो-लेश्या उपजती है।

कुछ समयके बाद भगवान्ने फिर सिद्धार्थपुरकी तरफ विहार किया। जब वह तिलवाली जगह आई तो गोशालक बोला—देखिए भगवन् ! वह तिलस्तम्ब नहीं निपजा है। दूसरी जगह पर निपजे हुए तिलस्तम्बकी ओर अंगुली करते हुए भगवान्ने फरमाया—देख, यह वही है, जिसे तूने उखाड़ फेंका था। गोशालकको इसपर विश्वास न हुआ। वह झट उसके पास गया और उसे तोड़कर देखा तो ठीक वही निकला। गोशालक नियतिवाद पर और भी अधिक दृढ़ हो गया। बस वहींसे वह भगवान्से अलग हो तेजो-लेश्याकी साधनामें जुट गया। यही गोशालक आगे जाकर आजीवक मतका आचार्य बनता है, भगवान्के दो शिष्यों को भस्मसात् करता है, भगवान्के ऊपर भी तेजो-लेश्या छोड़ता है और उसी तेजो-लेश्याके द्वारा जलकर स्वयं मर जाता है।

अभ्यास

१—गोशालक भगवान् महावीरके सम्पर्कमें कब और कैसे आया ?
२—गोशालक आजीवक मतकी ओर क्यों झुका ?
३—भगवान्ने उसको तेजो-लेश्यासे क्यों तथा कैसे बचाया ?
४—इस पाठका संक्षिप्त भावार्थ बताओ !

(४७)

भगवान् महावीर और गोशालक (द्वितीयांश)

भगवान्‌की कही हुई विधिके अनुसार तपकर गोशालकने तेजो-लेश्या प्राप्त कर ली। उसे प्राप्त करनेके बाद उसने पार्श्वनाथ भगवान्‌के शिष्य छवदिशाचरोंसे जो उसके शिष्य बन गए थे कुछ निमित्त-शास्त्रका अंश पढ़ा, जिससे वह सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवित और मरण इन छः बातोंको बतानेवाला सिद्ध-वचन-नैमित्तिक बन गया। इन शक्तियोंके कारण गोशालकका अधिक महत्त्व बढ़ गया। उसके अनुयायियोंकी संख्या बढ़ने लगी। साधारण भिक्षु गोशालक अब एक आचार्यकी कोटिमें पहुंच गया और आजीवक सम्प्रदायका तीर्थङ्कर बनकर विचरने लगा।

वि० पू० ४८६ में भगवान्‌ने वर्षावास मिथिलामें व्यतीत किया। चातुर्मासके पश्चात् भगवान् विचरते हुए श्रावस्ती पहुंचे और श्रावस्तीके ईशान-कोण-स्थित कोष्ठक चैत्यमें ठहरे। उन दिनों गोशालक भी श्रावस्तीमें था। जब भगवान् महावीरको

दीक्षा लिए करीब दो वर्ष होने आए थे, तब गोशालक उनका शिष्य हुआ था और लगभग ६ वर्ष तक साथ रहनेके बाद उनसे पृथक् हो गया था। उस घटनाको करीब १८ वर्ष पूरे हो चुके थे—उसे साधु बने करीब चौबीस वर्ष हो चुके थे।

एक दिन भगवान्‌के मुख्य शिष्य गौतम स्वामी भिक्षाके लिए श्रावस्तीमें पधारे। बस्तीमें फिरते हुए उन्होंने सुना कि आजकल श्रावस्तीमें दो तीर्थंकर विचर रहे हैं—एक श्रमण भगवान् महावीर और दूसरे मंखलीपुत्र गोशालक। इस बातने गौतम स्वामीको आश्चर्यमें डाल दिया। वे झट भगवान् महावीरके पास आये और सभाके समक्ष उन्होंने पूछा कि भगवन्! क्या गोशालक भी सर्वज्ञ तीर्थंकर है? गौतम स्वामीके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—गोशालकके तीर्थंकर होनेकी जो बाते चल रही हैं, वह सब मिथ्या हैं। गौतम! गोशालक जिन या सर्वज्ञ कुछ भी नहीं है। आजसे करीब चौबीस वर्ष पहले यह हमारा धर्म-शिष्य होकर हमारे साथ रहता था और करीब छः वर्षोंके बाद हमसे पृथक् हो गया और तबसे यह स्वच्छन्द विचर रहा है।

सभामें बैठे हुए सब मनुष्योंने यह बाते सुनी। व्याख्यान पूरा होनेसे अपने घरोंकी ओर चले। मार्गमें चलते हुए वे गौतम और भगवान्‌के प्रश्नोत्तरकी बातें कर रहे थे कि गोशालक मंखलिपुत्र—वह तीर्थंकर जिन आदि कुछ भी नहीं, वह छद्मस्थ है। उस समय गोशालक कोष्ठकोद्यान और श्रावस्तीके मध्यप्रदेशमें आतापना कर रहा था। लोगोंके वह शब्द उसके कानों तक पहुंचे।

वह उन शब्दोंसे क्रुद्ध हो उठा और जल्दीसे जल्दी अपने निवास स्थान हालाहलाकी भाण्डशालामे जाकर अपने शिष्य समुदायसे विचार विमर्श करने बैठा।

उस समय भगवान् महावीरके शिष्य आनन्द नामक अनगार भिक्षाचर्या करते हुए गोशालककी निवासशालाके आगे होकर जा रहे थे। गोशालक देखते ही उन्हे रोक कर बोला—देवानुप्रिय आनन्द! तेरे धर्माचार्य मेरे विषयमे जहा तहा कहते रहते है कि यह मंखलिपुत्र है, मेरा शिष्य है, छद्मस्थ है, ठीक है—आनन्द! अब तू जा और तेरे धर्माचार्यको सावधान कर दे कि मैं उन्हे इस बातका फल चखानेको आ रहा हूं। गोशालककी क्रोधपूर्ण बाते सुनकर अनगार आनन्द भयभीत हो गए। वह शीघ्रातिशीघ्र श्रमण भगवान् महावीरके पास जाकर गद्‌गद् कंठोसे बोले—भगवन्! गोशालक किसीको जलाकर भस्म करनेमे समर्थ है? भगवान्ने कहा हां आनन्द! समर्थ है फिर भी वह तीर्थंकरको नही जला सकता। उससे अनन्त गुनी तपः शक्ति साधुओंमे पर वह क्षमाशील है इसलिए उसका उपयोग नहीं करते। आनन्द! गौतम आदि श्रमणोंको इस बातकी सूचना कर दे कि यहा गोशालक आ रहा है। इस समय वह द्वेपसे भरा हुआ है इसलिए उससे कोई धर्मचर्चा भी न करे। अनगार आनन्दने भगवान्का आदेश गौतम-प्रमुख साधु-संघको सुना दिया। सब साधु उसे शिरोधार्य्य कर अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त हो गए।

अनगार आनन्दको आये थोड़ी देर हुई थी। आजीवक-

भिक्षु-संघके साथ गोशालक भी भगवान्‌के पास आ पहुंचा और क्षण भर मौन रखनेके बाद बोला—खूब कहा काश्यप महावीर। मैं गोशालक मंखलिपुत्र हूं, मैं तुम्हारा धर्म-शिष्य हूं ? आयुष्मान्! तुम्हें पता भी है कि तुम्हारा शिष्य वह मंखलिपुत्र गोशालक कभी-का परलोक सिधार चुका है। आर्य काश्यप! मैं तुम्हारा शिष्य मंखलिपुत्र गोशालक नहीं, मैं उससे भिन्न हूं। यद्यपि मैंने परिषह सहनेमें समर्थ गोशालकका शरीर धारण किया है, फिर भी मैं गोशालक नहीं किन्तु गोशालक-शरीर-प्रविष्ट उदायी कुण्डियायन नामक धर्म प्रवर्तक हूं, यह मेरा सातवां शरीरान्तर-प्रवेश है। मोक्ष जानेवालोंके लिए शरीरान्तर प्रवेश करना जरुरी है।

गोशालककी मायाजालपूर्ण अपनेको छिपाने वाली बातें सुनकर भगवान्‌ने कहा गोशालक! जैसे कोई चोर एक-आध ऊनके रेशे से, सनके रेशेसे अथवा रूईके पहलेसे अपनेको ढककर मान ले कि मैं ढक गया, वैसे ही तू दूसरा न होते हुए भी दूसरा होनेका व्यर्थ प्रयत्न मत कर। तू वही मंखलिपुत्र गोशालक है, जो मेरा शिष्य होकर रहा था।

महावीरके इन सत्य वचनोंसे वह आपेके बाहर आगया। उसने गालियोंकी बौछाड़ शुरू कर दी। उनको सहन न करते हुए भगवान्‌के शिष्य सर्वानुभूति उठे और गोशालके पास जाकर बोले—गोशालक! कोई व्यक्ति साधु महात्माओंसे एक भी धार्मिक वचन प्राप्त करता है, वह उन्हें वन्दन-नमस्कार करता है। भगवान् ने तो तुमको दीक्षित और शिक्षित किया था, उनके प्रति भी यह

बर्ताव ? महानुभाव ! ऐसा न करो। सर्वानुभूतिकी हित शिक्षाने उसकी क्रोधाग्निमें घृताहूतिका काम किया। उसने झट अपनी तेजो-लेश्या एकत्रित कर उनपर छोड़दी। तेजो-लेश्याकी प्रचण्ड ज्वालाओंसे जल कर मुनिका शरीर भस्म होगया और वे समाधिपूर्ण मृत्युसे आठवें स्वर्गमें उत्पन्न हुए। गोशालक अब और भी जोशमे आकर बक रहा था। तब एक दूसरे सुनक्षत्र अनगारसे भी रहा न गया, वे भी सर्वानुभूतिकी तरह उससे कहने लगे और उसने वैसेही उन मुनिको भी खाक कर डाला। वे भी बारहवें देवलोकमें देवता हुए।

गोशालककी उद्दण्डता बढ़ती ही गई तब भगवान्ने कहा गोशालक ! मैंने तुझे पढ़ाया, सिखाया, मुण्डित किया और मेरे साथही यह बर्ताव ! भगवान्की यह बात सुनतेही वह क्रोधाग्निसे जल उठा। वह झट सात कदम पीछे हटा और उसने भगवान्के शरीर पर भी बची-खुची तेजो-लेश्याका प्रयोग कर दिया। पहाड़ से टकराती हुई हवाकी तरह वह तेजो-लेश्या भगवान्से टकराकर वापिस गोशालकके शरीरमे घुस गई। उससे जलता हुआ वह बोला काश्यप ! तुम्हारा शरीर इस मेरी तपः-शक्तिसे व्याप्त हो हो गया है अतएव छः महनोंके भीतर तुम्हारी छद्मस्थ दशामें ही मृत्यु हो जायेगी। श्रमण भगवान्ने कहा—गोशालक ! मैं नहीं, तेरी शक्तिसे तू स्वयं दग्ध हो चुका है। मैं तो अभी सोलह वर्ष तक इस भू-मण्डल पर सुखपूर्वक विचरूंगा और तू सात दिनके भीतर छद्मस्थ-दशामें मृत्युको प्राप्त होगा।

अब गोशालककी तेजो-लेश्या क्षीण हो चुकी थी। इस समय भगवान्ने अपने शिष्योंसे कहा—आयुष्मान् श्रमणों! अब गोशालक तेजो-लेश्या-हीन हो गया है। अब इसके साथ धर्म-चर्चा करनेमें तुम्हें कोई भय नहीं। भगवान्के श्रमण यह आदेश पाते ही उससे चर्चा करने लगे, पर वह श्रमणोंके प्रश्नोंका उत्तर देनेमें असमर्थ रहा। अपने धर्माचार्यकी यह हालत देखकर उसके कई साधु भगवान् महावीरके शिष्य बन गये। एक तो वह सात दिनके अन्दर २ अपनी मौत देख रहा था क्योंकि मनमें तो उसे पूरा भरोसा था कि भगवान् जो कह रहे हैं, वह सच है और दूसरे अपने शिष्योंका भगवान्के अश्रयमें चला जाना एवं वापिस घुसी तेजो-लेश्याकी दाह इत्यादि अनेक कारणोंसे विह्वल हुआ गोशालक वहांसे अपने स्थान लौट आया।

अभ्यास

१—गोशालककी तरफ लोगोंके आकर्षणके क्या कारण थे?

२—वह भगवान्के समवसरणमें क्यों आया?

३—भगवान्की सभामें उसके आनेके बादका वृत्तान्त सुनाओ?

४—गोशालकने अपनी तेजो-लेश्याका प्रयोग क्यों व किस-किस पर किया?

अहिंसा (मानव अपनाना)

अपनाना एक तत्त्व अहिंसा अपनाना।
सब धर्मों का सत्त्व अहिंसा अपनाना॥ आ०॥

(१)

सब जग क्षेमंकरी अहिंसा,
भव-समुद्र बिच तरी अहिंसा!
भ्रातृभाव की दरी अहिंसा,
अपना हृदय रमाना॥ मानव अपनाना॥

(२)

विश्व-मैत्री का मूल मन्त्र यह,
वैर-रोग का तरुण तन्त्र यह।
आत्म-शुद्धिका पथ स्वतन्त्र यह,
सदय हृदय बन जाना॥ मानव-अपनाना॥

(३)

जैन-धर्म की जान अहिंसा,
सब दर्शन की शान अहिंसा।
शिव सुख की सन्तान अहिंसा,
मन तन्मयता लाना ॥ मानव अपनाना ॥

(४)

वीरों का कर्तव्य अहिंसा,
समय-समय स्मर्तव्य अहिंसा।
सदा नव्यकी नव्य अहिंसा,
कायरता मत लाना ॥ मानव अपनाना ॥

(५)

अपरम्पार अहिंसा शक्ति,
होब अहिंसक हिंसक व्यक्ति।
तब ही धर अभिनव अनुरक्ति,
'तुलसी' सीना ताना ॥ मानव अपनाना ॥

अभ्यास

१ क्या कोईभी धर्म अहिंसाशून्य हो सकता है ?
२ अहिंसा वीरोंका ही कर्तव्य क्यों है ?
३ इस गीतिकाके पांचवें पद्यका भावार्थ समझाओ।
४ इसके कोई दो पद्य कण्टस्थ सुनाओ।

(४१)

भारतीय धर्म और उनकी तुलना

भारतीय धर्मोंमे 'जैन' 'बौद्ध' और 'वैदिक' ये तीन प्रमुख धर्म हैं। इन तीनोंका चरम लक्ष्य है—निर्वाण-प्राप्ति।

प्रत्येक धर्मके दो पहलू होते है—विचार और आचार। धर्म का आधार क्या है ? इसे समझनेके लिए विचारकी आवश्यकता होती है, उसे 'दर्शन' कहा जाता है। धर्मको जीवनमें उतारना, वह आचार है।

जैन-धर्मका दार्शनिक रूप 'स्याद्वाद' है। सत्यांशको पूर्ण सत्य न समझना, एकांशमें पूर्णताका आग्रह न करना, अपेक्षा-दृष्टिसे विरोधी प्रतीत होनेवाले वस्तु-धर्मोंका विरोध मिटाना, यह स्याद्वादका प्रयोजन है।

बौद्ध-धर्मका दार्शनिक सिद्धान्त 'क्षणिक-वाद' है—प्रत्येक पदार्थ पहले क्षणमें उत्पन्न और दूसरे क्षणमें नष्ट होता है, कोई भी पदार्थ नित्य नहीं।

वैदिक धर्मकी नैयायिक, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा, सांख्य और योग ये छव विचार-धाराएं है।

जैनोंके श्वेताम्बर और दिगम्बर, बौद्धोंके हीनयान और महायान इस प्रकार भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं। फिर भी जिस प्रकार जैनोंकी सब शाखाओंको स्याद्वाद और बौद्धोंके सम्प्रदाय को शून्यवाद या क्षणिकवाद मान्य हैं, वैसे वैदिकोंका कोई एक ऐसा सिद्धान्त नहीं है, जिसे सर्वमान्य कहा जा सके। आचार प्रायः इन सभी धर्मोंमें न्यूनाधिक रूपमें 'अहिंसा' है।

दर्शनके अधिष्ठाता

जैन-दर्शनके अन्तिम अधिष्ठाता—चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर थे। बौद्ध दर्शनके महात्मा बुद्ध और न्याय वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, और योग इनके प्रणेता क्रमशः महर्षि गौतम, कणाद, जैमिनी, वाद्‌रायण, कपिल और पातञ्जलि थे।

मान्य ग्रन्थ

जैन 'द्वादशाङ्गी' को प्रमाण मानते हैं। बौद्धोंके मान्य ग्रन्थ 'पिटक' हैं। वैदिकोंके स्वतः—प्रमाण वेद हैं।

यह सब भारतीय धर्मोंका संक्षेपमें परिचय है। अब इनमें विचार-भेद होते हुए भी जो समता है, उस पर विचार करना है।

जैन दर्शन

आस्रव दुःखके हेतु हैं। मोक्ष—आत्माके शुद्ध स्वरूपकी अभिव्यक्ति तथा दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। सम्वर और निर्जरा ये मोक्ष के मार्ग हैं।

बौद्ध दर्शन

दुःख (हेय), समुदय, (हेय-हेतु) मार्ग (हानोपाय) और निरोध (मोक्ष-हान) ये चार आर्य-सत्य माने जाते हैं।

वैदिक-दर्शन

अविद्या[1] दुःखका कारण है। विद्यासे मोक्ष—अमरत्त्व प्राप्त होता है।

कुछ तुलनात्मक सिद्धान्त वाक्य

अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो। (जैन)
प्राणीमात्रके प्रति जो संयम है, वह अहिंसा है।

अहिंसा सव्व पाणानं, अरियोत्ति पव्वुच्चइ। (बौद्ध)
अहिंसाही आर्य—सत्य है।

सर्वथा सर्वदा सर्वभूतेष्वनभिद्रोहः'—अहिंसा (वैदिक)
सर्वथा सदा, सब प्राणियोंको कष्ट न पहुंचाना, यही अहिंसा है।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥ (जैन)

१—अविद्या बन्ध हेतु स्यात्, विद्या स्यात् मोक्ष कारणम्।
ममेति बध्यते जन्तुः, न ममेति विमुच्यते ॥
विद्याञ्चा विद्याञ्च, यस्तद् वेदोभय$^{\circ}$ सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा, विद्ययाऽमृतमश्नुते।
ईशोपनिषद् ११

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कर्म—जीविका वृत्तिके अनुसार होते हैं।

न जच्चा वसलो होती, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुणा वसलो होइ, कम्मुणा होइ ब्राह्मणो॥ (बौद्ध)

जातिसे कोई शूद्र या ब्राह्मण नहीं होता। कर्मसे ही मनुष्य शूद्र होता है और कर्मसे ही ब्राह्मण।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। (वैदिक)

श्रीकृष्ण कहते हैं—मैंने गुण और कर्म-विभागके अनुसार चार वर्णोंकी सृष्टि की है।

सुचिण्ण कम्मा सुचिण्णफला, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्ण फला। (जैन)

अच्छे कर्मोंका फल अच्छा और बुरे कर्मोंका बुरा फल होता है।

यं कम्मं करिस्सामि, कल्लाणं वा पापकं तस्स दायादं भविस्सामि। (बौद्ध)

मैं अच्छा या बुरा जैसा कर्म करूंगा, वैसा ही मुझे फल भुगतना होगा।

यादृशं क्रियते कर्म, तादृशं लभ्यते फलम्। (वैदिक)

जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है, वह वैसा ही फल पाता है।

जैन और वैदिक दर्शनमें आत्मा है, कर्म है, पुनर्जन्म है, स्वर्ग-नरक है, मोक्ष है, शुभ कर्मोंका शुभ फल, अशुभ कर्मोंका अशुभ फल होता है—आदि-आदि मूलभूत सिद्धान्तों की समता है।

बौद्ध दर्शन एक ध्रुव आत्माको स्वीकार नहीं करता इसके अतिरिक्त कर्म, पुनर्जन्म आदि सिद्धान्त उसे भी जैन और वैदिकों की भाति पूर्णतया मान्य है।

जैन और बौद्ध जगत्को अनादि-अनन्त मानते है, ईश्वरको जगत्का कर्ता नहीं मानते।

वैदिक जगत्को अनादि-अनन्त मानते हुए भी इसके साथ सृष्टि और प्रलयका सम्बन्ध जोड़ते हैं और उनका-सृष्टि और प्रलय का कर्ता ईश्वर माना जाता है।

जैन ईश्वर मानते है किन्तु उसे जगत्का निर्माता नहीं मानते। जैन-दर्शनके अनुसार जो आत्मा कर्म-मलसे सर्वथा मुक्त हो जाती है, वही ईश्वर है।

जैन और बौद्ध दोनों आत्माका कर्तृत्व स्वीकार करते है। गीतामें भी यही सिद्धान्त माना गया है—

[1]नादत्ते कस्यचित् पापं, न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यान्ति जन्तवः॥

विभु अर्थात् सर्वव्यापी आत्मा या परमेश्वर किसीका पाप और किसीका पुण्य भी नहीं लेता। ज्ञान पर अज्ञानका पर्दा पड़ा रहनेके कारण (अर्थात् मायासे) प्राणी मोहित हो जाते हैं।

[2]न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

प्रभु अर्थात् परमेश्वर लोगोंके कर्तृत्वको, उनके कर्मको (या

१—गीता अध्याय ५ श्लोक १५ २—गीता अ० ५ श्लोक १४

उनके प्राप्त होनेवाले) कर्म फलके संयोगको भी निर्माण नहीं करता। स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही (सब कुछ) किया करती है।

शरीरं यदवाप्नोति, यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानी संयाति, वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

ईश्वर अर्थात् जीव जब (स्थूल) शरीर पाता है और जब वह (स्थूल) शरीरसे निकल जाता है, तब यह जीव इन्हें (मन और पांच इन्द्रियोंको) वैसे ही साथ ले जाता है जैसे कि (पुष्प आदि) आश्रयसे गन्धको वायु ले जाती है।

[1]पुण्यः पुण्येन कर्मणा पापः पापेन कर्मणा।

पुण्य कर्मसे पुण्य और पाप-कर्मसे पाप होता है।

धर्मोंका मूल अहिंसा और सत्यसे ओत-प्रोत है। धार्मिक व्यक्ति सभी धर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन कर, सार-सार ग्रहण करें तो बहुत लम्बे कालसे चलनेवाला धर्म-युद्ध समाप्त हो सकता है।

अभ्यास

१—भारतीय धर्मोंकी मुख्य कितनी शाखाएं हैं ?

२—उनकी प्रमुख दार्शनिक विचार धाराएं क्या-क्या हैं ?

३—क्या इन धर्मोंमें परस्पर साम्य है ? यदि है तो उसे सिद्ध कीजिए।

४—पुनर्जन्मके विषयमें किन-किन धर्मोंमें ऐकमत्य है ?

१—वृहदारण्य कोपनिषद्।

★ परिशिष्ट ★

प्रथम अणुव्रत

पढमं अणुव्वयं थूलाओ - पाणाईवायाओ
प्रथम अणुव्रत स्थूल प्राणातिपात- जीव हिंसा से

वेरमणं तसजीवे बेइंदिय - तेइंदिय-
विरत होना—अलग होना त्रस जीव द्वीन्द्रिय त्रिन्द्रिय

चउरिंदिय - पंचिंदिय संकप्पओ हणण-
चतुरिन्द्रिय पचेन्द्रिय को सकल्प पूर्वक मारने का

हणावण - पच्चक्खाणं स - शरीरं
मरवाने का प्रत्याख्यान है निज के शरीरको

स-विसेस - पीडाकारिणो स-सम्बन्धी स-विसेस
विशेष पीडा देनेवालेको अपने सबधी जनोको विशेष

पीडाकारिणो वा वज्जिऊण जावज्जीवाए
पीडा देनेवाले को वर्जकर जीवन पर्यन्त

दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि
दो करण तीन योग से (स्थूल हिंसा) नही करू नही करवाऊं

मणसा वयसा कायसा एअस्स थूलगं
मन से वचन से शरीर से इस स्थूल

पाणाइवाय वेरमणस्स समणोवासएणं पंच
प्राणातिपात विरमण व्रत के श्रमणोपासक को पाच
अइयारा पेयाला जाणियव्वा न
अतिचार प्रधान जानने योग्य है । नही कि
समायरियव्वा तंजहा:— १ बंधे २ वहे
आचरण करने वे इस प्रकार है- त्रस जीव निर्दतासे
योग्य को बांधना मारना पीटना
३ छविच्छेए ४ अइभारे ५ भत्तपाण-
गहरा घाव घालना अतिभार लादना खानेपीनेमे
शरीर केअवयवो
का छेदन करना
विच्छेए । जो मे देवसिओ अइयारो
रुकावट डालना । जो मैंने दिवससबंधी अतिचार
कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।
किये हो तो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो ।

दूसरा अणुव्रत

बीअं अणुव्वयं थूलाओ मुसावायाओ
दूसरा अणुव्रत स्थूल मृषावाद (झूठ) से
वेरमर्ण सेय मुसावाए पंचविहे
विरमण (निवृत्त) करना वह मृषावाद (झूठ) पाच प्रकार का

पन्नत्ते तंजहाः— १ कन्नालीए
कहा है। वह इस प्रकार है — कन्या सम्बन्धी (झूठ)

२ गवालीए ३ भोमालीए ४ नासावहारे
गाय आदि सबधी झूठ भूमि सबधी झूठ धरोहर सबधी झूठ

५ कूड सक्खिज्जे इच्चेव माइस्स
झूठी साक्षी (गवाही) इत्यादि

थूल मुसावायस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए
स्थूल मृषावाद (झूठ) का प्रत्याख्यान जीवन पर्यन्त

दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि
दो करण तीन योग से न (झूठ)बोलू न (झूठ)बोलाऊँ

मणसा वयसा कायसा एअस्स बीयस्स
मन से वचन से काया से इस द्वितीय

थूलग—मुसावाय वेरमणस्स समणोवासएणं
स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के श्रमणोपासकको

पंच अइयारा जाणियव्वा न
पाच अतिचार ज्ञातव्य (जानने योग्य)है। नही है

समायरियव्वा तंजहाः— १ सहसाभक्खाणे
आदरणीय वे इस प्रकार है — यकायक विना सोचे विचारे
(आदरवा योग्य) किसी पर कलक लगाना

२ रहस्सभक्खाणे ३ सदारमंतभेए ४ मोसोवयसे
रहस्य की वाते करते स्व स्त्री के मर्म को मिथ्या उपदेश
देखकर कलक लगाना प्रकट करना देना

५ कूडलेह करणे । जो मे देवसिओ अइयारो
झूठा लेख लिखना । जो मैंने दिवस सबधी अतिचार
कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।
किये हो तो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो ।

तीसरा अणुव्रत

तइयं अणुव्वयं थूलाओ अदिण्णा
--तीसरे अणुव्रत मे स्थूल अदत्तादान (चोरी)
दाणाओ वेरमणं सेय अदिण्णादाणे
दान का विरमण (परित्याग) वह अदत्तादान (चोरी)
पंचविहे पन्नत्ते तंजहाः—
पाच प्रकार का कहा है । वे इस प्रकार है.—
१ खत्तखणणं २ गंठिभेअणं ३ जंतुग्घाडणं
खात खनना गाठ खोलना ताला तोड़ना
(भीत फोडना)
४ पडियवत्थुहरणं ५ ससामिअ-वत्थुहरणं
पड़ी हुई वस्तु को लेना दूसरे की वस्तु लेना
इच्चेव माइस्स थूल अदिण्णादाणस्स
इत्यादिक स्थूल अदत्तादान (चोरी करने) का
पच्चक्खाणं जावज्जीवाए दुविहं
प्रत्याख्यान (परित्याग) जीवन पर्यन्त दो करण

तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा
तीन योग से न करू न करवाऊ मन से

वयसा कायसा। एअस्स तइयस्स थूलग
वचन से शरीर से। इस तृतीय स्थूल

अदिण्णादाण वेरमणस्स समणोवासएणं
अदत्तादान विरमण व्रत के श्रमणोपासक को

पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा
पाच अतिचार जानने योग्य है न कि आचरण करने योग्य

तंजहा:— १ तेनाहडे २ तक्करप्पओगे
वे इस प्रकार है:—चोर की चुराई हुई वस्तु ली हो चोर की सहयता की हो

३ विरुद्धरज्जाइक्कमे ४ कूडतुल्लकूडमाणे
विरुद्ध राज्य में व्यापारादि निमित्त प्रवेश किया हो कूट तोल कूट माप किया हो

५ तप्पडिरूवगववहारे जो मे देवसिओ
वस्तु मे भेल-सभेल किया हो जो मैंने दिवस सबधी

अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।
अतिचार किये हो तो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

चौथा अणुव्रत

चउत्थं अणुव्वयं थूलाओ मेहुणाओ
चौथा अणुव्रत मे स्थूल मैथुन से

वेरमणं ।	**जावज्जीवाए**	**दिव्वं**	**दुविहं**
विरमण (निवृत्त)होना	जीवन पर्यन्त	देवता सम्बन्धी	दो करण
तिविहेणं	**न करेमि**	**न कारवेमि**	**मणसा**
तीन योगसे	न करू	न करवाऊ	मन से
वयसा	**कायसा ।**	**माणुस्सं**	**तिरिक्खजोणियं**
वचन से	शरीर से ।	मनुष्य व	तिर्यच सम्बन्धी
एगविहं	**एगविहेणं**	**न करेमि**	**कायसा ।**
एक करण	एक योग से	न करू	काया से (शरीर)
एअस्स	**चउत्थस्स**	**थूलग**	**- मेहुवेरमणस्स**
इस	चतुर्थ	स्थूल	मैथुन विरमण व्रत के
समणोवासएणं	**पंच**	**अइयारा**	**जाणियव्वा**
श्रमणोपासक को	पाच	अतिचार	जानने योग्य है
न	**समायरियव्वा**		**तंजहाः—**
न कि	आचरण करने योग्य		वे इस प्रकार हैं :—

१ इत्तरियपरिग्गहियागमणे
भाड़ा देकर कुछ कालके लिए अपने अधीन की हुई स्त्रीसे आलाप-संलाप रूप गमन करना

२ अपरिग्गहियागमणे
अपनी विवाहिता पत्नी के सिवाय वेश्यादिसे आलाप-सलाप रूप गमन करना

३ अणंगकिड्डा
अस्वाभाविक रीति से काम क्रीड़ा करना

४ परविवाह-करणे
पर सतति का विवाह करना

५ काम भोग—तिव्वा—भिलासे जो मे देवसिओ
५ तीव्र अभिलाषा से काम-क्रीडा करना जो मैंने दिवस सम्बन्धी
अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं
अतिचार किये हो तो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

पांचवां अणुव्रत

पंचमं अणुव्वय थूलाओ परिग्गहाओ
पाचवा अणुव्रत स्थूल परिग्रह से
वेरमणं १ खेतवत्थुणं जहापरिमाण
विरमण (निवृत्त होना) १ क्षेत्र वस्तुका यथा परिमाण
२ हिरण्णं - सुवण्णाणं जहा परिमाणं
२ हिरण्य (चांदी) सुवर्ण (सोना) का यथा परिमाण
३ धणधन्नाणं-जहापरिमाणं ४ दुप्पय-चउप्पयाणं
३ धन-धान्य का यथापरिमाण द्विपद-चतुष्पद का
जहापरिमाणं ५ कुवियस्स—जहापरिमाणं
यथा परिमाण ५ कुप्य तथा घर सामग्रीका यथा परिमाण
एवं मए जहापरिमाणं कयं तओ
इस प्रकार मैंने जो परिमाण किया है उसके
अइरित्तस्स परिग्गहस्स पच्चक्खाणं
उसके उपरांत परिग्रह रखने का प्रत्याख्यान (परित्याग)
जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं
जीवन पर्यन्त करता हूं एक करण तीन योग से

न करेमि मणसा वयसा कायसा
न करू (प्रमाण मनसे वचन से शरीर से।
अधिक परिग्रहका सचय)

एअस्स पंचमस्स थूलग परिग्गह-परिमाण-व्वयस्स
इस पांचवें स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत के

समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न
श्रमणोपासक(श्रावक) को पांच अतिचार जानने योग्य है न कि

समायरियव्वा तंजहा:—१ खेत्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे
आचरण करने योग्य वे इस प्रकार है:—१ क्षेत्र वस्तुके प्रमाणका अतिक्रमण करना

२ हिरण्ण-सुवण्णप्पमाणाइक्कमे ३ धणधन-
२ हिरण्य सुवर्णके प्रमाणका अतिक्रमण करना ३ धन-धान्यके

प्पमाणाइक्कमे ४ दुप्पय-चउप्पयप्पमाणाइक्कमे
प्रमाणका अतिक्रमण करना ४ द्विपद चतुष्पदके परिमाण का अतिक्रमण करना

५ कुविय-प्पमाणाइक्कमे जो मे देवसिओ
कुप्य परिमाणका अतिक्रमण करना जो मैंने दिवस सम्बन्धी

अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं
अतिचार किया हो तो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

छट्ठा अणुव्रत

छट्ठं दिसिव्वय, उड्ढदिसाए जहापरिमाणं
छठ्ठा दिग्व्रत ऊर्ध्व दिशा का यथा परिमाण

अहोदिसाए जहापरिमाणं, तिरियदिसाए-
नीची दिशाका यथा परिमाण तिर्यग् दिशाका
जहापरिमाण, एवं मए जहापरिमाणं
यथा परिमाण इस प्रकार मैंने जो परिमाण
कयं तओ सेच्छाए काएणं
किया है उसके उपरान्त अपनी इच्छासे शरीरके द्वारा
गंतूणं पंचासवासेवणस्स पच्चक्खाणं
जाकर पांच आस्रव सेवन करनेका प्रत्याख्यान (परित्याग)
करता हूं
जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न
जीवन पर्यन्त एक करण तीन योग से न
(पाच आश्रवो का सेवन)
करेमि मणसा वयसा कायसा । एअस्स
करू मन से वचन से शरीर से । इस
छट्ठस्स दिसिव्वयस्स समणोवासएण पंच
छठे दिग्व्रत के श्रावक को पाच
अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा
अतिचार जानने योग्य है न कि आचरण करने योग्य
तंजहा:— १ उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कमे
वे इस प्रकार है —उर्ध्व दिशाके प्रमाणको उल्लघन करना
२ अहोदिसिप्पमाणाइक्कमे ३ तिरियदिसि-
नीची दिशाके परिमाणको उल्लघन करना तिरछी दिशाके

प्पमाणाइक्कमे ४ खेत्तवुड्ढी
परिमाणको उल्लंघन करना ४ एक दिशाके परिमाणको घटाकर दूसरी दिशाका परिमाण बढ़ाना

५ सइअंतरद्धा जो मे देवसिओ
५ परिमाणकी याददाश्तीकी कमीके जो मैंने दिवस संबंधी
कारण सन्देह सहित आगे जाना

अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं
अतिचार किया हो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

सातवां अणुव्रत

सत्तमे वए उपभोग - परिभोग - विहिं
सातवे व्रत मे उपभोग परिभोग विधिका

पच्चक्खायमाणे। १ उल्लणियाविहि
प्रत्याख्यान (परित्याग) करना रूमाल विधि

२ दंतणविहि ३ फलविहि ४ अब्भंगणविहि
दतौन विधि फल विधि तैल मर्दन विधि

५ उव्वट्टणविहि ६ मज्जणविहि ७ वत्थविहि
पीठी विधि स्नान विधि वस्त्र विधि

८ विलेवणविहि ९ पुप्फविहि १० आभरणविहि
विलेपन विधि पुष्प विधि आभूषण विधि

११ धूवणविहि १२ पेज्जविहि १३ भक्खविहि
धूप विधि पेय विधि भक्ष्य विधि

१४ ओदणविहि (रंधी हुई चीजें)	१५ सूवविहि	१६ विगयविहि
ओदन विधि	दाल विधि	विगय विधि
१७ सागविहि	१८ महुरविहि	१६ जेमणविहि
साग विधि	मधुर फल विधि	भोजन विधि
२० पाणीयविहि	२१ मुहवासविहि	२२ वाहणविहि
पानी विधि	मुखवास विधि	वाहन विधि
२३ सयणविहि		२४ उवाहणविहि
शयन विधि		उपानद् (जूता) विधि
२५ सचित्तविहि	२६ दव्वविहि	इच्चाइणं
सचित्त विधि	द्रव्य विधि	इत्यादि

जहापरिमाणं कयं तओ अइरित्तस्स
जो परिमाण किया उससे अधिक

उवभोगपरिभोगस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए
उपभोग परिभोग सेवनका प्रत्याख्यान जीवन परयंन्त

एगंविहं तिविहेणं न करेमि मणसा
एक करण तीन योग से नहीं करू मन से

वयसा कायसा । सत्तमे उवभोगपरिभोगव्वए
वचन से शरीर से । सातवा उपभोग-परिभोग व्रत

दुविहे पन्नत्ते तंजहा:—भोयणओ
दो प्रकार का कहा है । वह इस प्रकार है—भोजन से

कम्मओय तत्थणं भोयणओ समणोवासएणं
कर्म से उसमे भोजन सबधी श्रावक को
पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा
पाच अतिचार जानने योग्य है न कि? आचरण करने योग्य
तंजहाः—१ सचित्ताहारे २ सचित्तपडिबद्धाहारे
वे इस प्रकार हैं— परित्यागकी हुई सचित्त सयुक्त वस्तु को
सचित्त वस्तुका भक्षण करना भक्षण करना
३ अप्पओलिओसहिभक्खणया ४ दुप्पओलिओ-
अपक्व औषधि (धान्यादि) का भक्षण करना अर्द्धपक्व औषधि
सहिभक्खणया ५ तुच्छोसहिभक्खणया
(धान्यादि) का भक्षण करना असार फलादिका भक्षण करना
जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स
जो मेने दिवस सबंधी अतिचार किया हो उसका
मिच्छामि दुक्कडं ।
पाप मेरे लिए निष्फल हो ।

पन्द्रह कर्मादान

कम्मओणं समणोवासएणं पणरसकम्मादाणाई
कर्मसे श्रावक को पन्द्रह कर्मादान
जाणियव्वाइं न समायरियव्वाइं
जाननें योग्य है न कि आचरण करने योग्य

तंजहाः— १ इङ्गालकम्मे २ वणकम्मे
वे यह हैं— अगार कर्म वनकर्म
३ साड़ीकम्मे ४ भाड़ीकम्मे ५ फोड़ीकम्मे
शाटक कर्म भाटक कर्म स्फोटक कर्म
६ दंतवाणिज्जे ७ केसवाणिज्जे ८ रसवाणिज्जे
दांत का व्यापार केश का व्यापार रस का व्यापार
९ लक्खवाणिज्जे १० विषवाणिज्जे
लाख का व्यापार विष का व्यापार
११ जंतपीलणकम्मे १२ निल्लंछणकम्मे
कोल्हू आदि (यन्त्र) पीलनेका व्यापार निर्लांछन कर्म
१३ दवग्गिदावणया १४ सरदहतलायपरिसोसणया
दवग्निदापन (दावानललगाना) सरोवर तालावादि को सुखाना
१५ असइजणपोसणया जो मे देवसिओ
असतीजन का पोषण करना जो मैंने दिवस संबंधी
अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं
अतिचार किया हो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो

आठवां अणुव्रत

अट्ठमं अणट्ठदंड—वेरमणव्वयं सेय
आठवा अनर्थदंड विरमण व्रत वह
अणट्ठदंडे चउव्विहे पन्नत्ते तंजहाः—
अनर्थ दं चार प्रकार से कहा है वह इस प्रकार है:—

१ अवज्झाणाचरिए — अपध्यान
२ पमायाचरिए — प्रमाद का आचरण करना
३ हिंसप्पयाणे — हिंसाकारी शस्त्रोका प्रदान करना
४ पावकम्मोवएसे — पाप कर्मका उपदेश करना

इच्चेवमाइस्स अणट्ठदंडासेवणस्स पच्चक्खाणं
इत्यादि अनर्थ दंड सेवन का प्रत्याख्यान (परित्याग)

जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि
जीवन पर्यन्त दो करण तीन योग से। न करूं (अनर्थ दंड सेवन)

न कारवेमि मणसा वयसा कायसा। एअस्स
न करवाऊ मन से वचन से शरीर से। इस

अट्ठमस्स अणट्ठदंड वेरमणस्स समणोवासएणं
आठवें अनर्थदंड विरमण व्रत के श्रावक को

पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा
पांच अतिचार जानने योग्य हैं न कि आचरण करनेयोग्य

तंजहा:— वे इस प्रकार हैं:—
१ कंदप्पे — कामोद्दीपक कथा करना
२ कुक्कुइए — भांड की भांति कुचेष्टा करना
३ मोहरिए — बिना प्रयोजन अधिक बोलना
४ संयुत्ताहिकरणे — अधिकरण शस्त्रोको एक साथ रखना
५ उवभोग-परिभोगातिरित्ते — उपभोग-परिभोगकी वस्तुओको अधिक रखना

जो मे
जो मैंने

देवसिओ अइयारो कओ तस्स
दिवस सबंधी अतिचार किया हो उसका
मिच्छामि दुक्कडं ।
पाप मेरे लिए निष्फल हो ।

नवमा अणुव्रत

नवमं सामाइयव्वयं सावज्जं जोगं
नववा सामायिक व्रत सावद्य योग
वेरमणरूवं जावनियमं पज्जुवासामि
विरमण रूप जब तक (नियम का) पालन करूं
दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि
दो करण तीन योगसे (सावद्यकार्य) न करू न करवाउं
मणसा वयसा कायसा । एअस्स नवमस्स
मन से वचन से शरीर से । इस नवमे
सामाइयव्वयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा
सामायिक व्रत के श्रावक को पांच अतिचार
जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—
जानने योग्य हैं न कि आचरण करने योग्य वे यह हैं —
१ मणदुप्पणिहाणे २ वयदुप्पणिहाणे
मन की सावद्य प्रवृत्ति की हो वचनकी सावद्य प्रवृत्तिकी हो
३ कायदुप्पणिहाणे ४ सामाइयस्स-सइअकरणया
शरीर की सावद्य प्रवृत्ति की हो सामायिक की सस्मृति न रखी हो

५ सामाइयस्स अणवट्ठियस्सकरणया । जो मे
सामायिक को नियमित समय से पूरी की हो जो मैंने
देवसिओ अइयारो कओ तस्स
दिवस सबंधि अतिचार किया हो उसका
मिच्छामि दुक्कडं ।
पाप मेरे लिए निष्फल हो ।

दशवां अणुव्रत

दसमं देसावगासियव्वयं दिणमज्झे
दशवां देशावकासिक व्रत दिन में
पच्चसकालाओ आरब्भ पुव्वादिसु छसुदिसासु
प्रभात काल से लेकर पूर्वादि छः दिशाओ मे
जावइयं परिमाणं कयं तओ अइरित्तं
जिनना भूमि का परिमाण किया उससे उपरान्त
सेच्छाए काएणं गंतूणं अन्नेवा
स्वेच्छापूर्वक शरीरसे जाकर अथवा अन्य को
पहिऊण पंचासवा-सेवणस्स पच्चक्खाणं
भेजकर पाच आस्रव सेवन करने का त्याग
जाव - अहोरत्तं दुविहं तिविहेणं न करेमि
यावत् दिन रात का दो करण तीन योग से न करू
न कारवेमि मणसा वयसा कायसा अहय
न करवाऊ मन से वचन से शरीरसे और

छसु दिसासु जावइयं परिमाणं कयं
छ दिशाओ मे जितना परिमाण किया

तम्मज्झेवि जावइयाणं दव्वाणं परिमाणं
उसमे जितने द्रव्यो का परिमाण

कयं तओ अवरित्तस्स उवभोग-परिभोगस्स
किया , उसके उपरान्त उपभोग-परिभोग का

पच्चक्खाण जाव अहोरत्तं एगविहं
प्रत्याख्यान यावत् दिन रात तक एक करण

तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा
तीन योग मे न करु मन से वचनसे शरिर से

एअस्स दसमस्स देसावगासियव्वयस्स
इस दसवे देशावकासिक व्रत के

समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा
श्रावक को पाच अतिचार जानने योग्य है

न समायरियव्वा तंजहा:—
न कि आचरण करने योग्य वे इस प्रकार है —

१ आणवणप्पओगे
मर्यादित क्षेत्रसे बाहिरकी वस्तु मगाना

२ पेसवणप्पओगे
मर्यादित क्षेत्रसे बाहिर वस्तु भेजना

३ सद्दाणुवाए
शब्दोके द्वारा मनोगत भावोका ज्ञान कराना

४ रूवाणुवाए
रूप दिखाकर मनके भाव प्रकट करना

५ बहियापुग्गलपक्खेवे जो मे देवसिओ
कंकड़ आदि पुद्गल फेककर जो मैंने दिवस संबधी
भाव जताना
अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।
अतिचार किया हो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

ग्यारहवां अणुव्रत

एकारसमं पोसहोववासव्वयं असण
ग्यारहवा पौषधोपवास व्रत। अशन
पाण-खाइम-साइम-पच्चक्खाणं, अबंभपच्चक्खाणं
पानी खादिम स्वादिमका प्रत्याख्यान। मैथुन सेवनका प्रत्याख्यान
उम्मुक - मणि - सुवण्णाइ पच्चक्खाणं
उन्मुक्त रत्न सोना आदि प्रत्याख्यान।
मालावण्णग विलेवणाइ पच्चक्खाणं
माला रग विलेपन आदि का प्रत्याख्यान।
सत्थमूसलाइ सावज्जजोग पच्चक्खाणं
शस्त्र मूसल आदि सावद्य व्यापार का प्रत्याख्यान।
जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि दुविहं
यावत् दिन रात तक पौषध व्रतका सेवन करता हू दो करण
तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा
तीन योग से न करूं न करवाऊ मन से
(सावद्य योगका सेवन)

वयसा कायसा । एअस्स एकारसमस्स
वचन से शरीर से । इस ग्यारहवें
पोसहोववासस्स समणोवासएण पंच अइयारा
पोषध व्रत के श्रावक को पाच अतिचार
जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा:—
जानने योग्य है न कि आचरण करने योग्य वे इस प्रकार है।

१ अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय सिज्जासंथारए
निरीक्षण न करना असावधानीसे निरीक्षण करना शय्या सस्तारक (सम्थारक)

अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सिज्जासंथारए
न पूजना असावधानी से पूजना शय्या सस्तारक

३ अप्पडिलेहिय - दुप्पडिलेहिय - उच्चारपासवणभूमी
निरीक्षण न करना असावधानी से निरीक्षण करना मल-मूत्रके उत्सर्गकी भूमि का

४ अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय उच्चारपासवणभूमी
न पूजना असावधानी से पूजना मल-मूत्रको उत्सर्ग करने की भूमि का

५ पोसहोववासस्स सम्मंअणणुपालणया जो मे
पौषधोपवास व्रत को विधिवत् न पालना जो मैंने
देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।
दिवस संबंधी अतिचार किया हो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

बारहवां अणुव्रत

बारसमं अहासंविभागव्वयं समणे
बारहवां यथा संविभाग व्रत श्रमण
निग्गंथेफासुएणं ऐसणिज्जेणं असण पाण—
निग्रन्थ को अचित्त एषणीय अशन पान
खाइमसाइमेणं, वत्थपडिग्गहकंबलपाय
खादिम स्वादिम, वस्त्र पात्र कवल पाद-
पुंछणेणं पाडिहारिएणं पीढफलक
पोछन प्रतिहारिक (जो पदार्थ गृहस्थ को पीठ फलग
वापिस लौटाये जा सकते है)
सिज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेणए,
शय्या सरतारक औषधि भेषज
पडिलाभमाणे विहारामि। एअस्स बारसमस्स
प्रतिलाभ (देता) हुआ रहू इस बारहवें
अहासंविभागव्वयसस्स समणोवासएणं पंच
यथा संविभाग व्रत के श्रावक को पाच
अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा
अतिचार जानने योग्य है न कि आचरण करने योग्य
तंजहा:— १ सचित्तनिक्खेवणया
वे इस प्रकार हैं:— एषणीय वस्तुओ को सचित्त
वस्तुओके उपर रखना

२ सचित्तपिहणया			३ कालइक्कमे
सचित्त से ढाकना			काल का अतिक्रमण करना
परववदेशे	५ मच्छरिया	जो	मे
अपनी वस्तु को दूसरे की बतलाना	मत्सर भाव से दान देना	जो	मैंने

देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामिदुक्कडं

दिवस सबधी अतिचार किया हो उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

"ज्ञान के चवदह अतिचार"

आगम तीन प्रकारका कहा है—जसे सूत्रागम, अर्थागम, शब्द और अर्थ इन दोनों रूप आगम।

ऐसे श्री ज्ञान के अन्दर जो कोई अतिचार दोप लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूं—(१) सूत्र का पठन अस्त व्यस्त किया हो (२) दूसरा सूत्र साथमें मिलाकर पढ़ा हो (३) अक्षरों को छोड़कर पढ़ा हो (४) अधिक अक्षर मिलाकर पढ़ा हो (५) पदहीन पढ़ा हो (६) विनय रहित पढ़ा हो (७) स्वर रहित पढ़ा हो (८) शुभयोग रहित पढ़ा हो (९) भाजन से अधिक ज्ञान दिया हो (१०) गुरुने ज्ञान दिया, उसे उल्टा ग्रहण किया हो (११) अकालमें स्वाध्याय किया हो (१२) स्वाध्यायके काल [समय] में स्वाध्याय न किया हो (१३) अस्वाध्याय में स्वाध्याय किया हो। (१४) स्वाध्याय में स्वाध्याय न किया हो। पढ़ते समय, मनन करते समय या विचार करते समय, ज्ञानकी अथवा ज्ञानवंतकी आशातनाकी हो इत्यादि जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार किये हों, मेरे वे सब दोप निष्फल हों।

सम्यक्त्वके ५ अतिचार

अरिहंत मेरे देव हैं। जीवन-पर्यंत शुद्ध साधु (वर्तमान आचार्यश्री तुलसी गणी) मेरे गुरु हैं। जिनभाषित संवर निर्जरा रूप मेरा धर्म है। ऐसे श्री सम्यक्त्वमें जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूं—१ श्री जिनभाषित तत्त्वमें शंका की हो। २ बाह्याडम्बरादि देखकर पर-मतकी वांछा की हो। ३ क्रियाके फलमें सन्देह किया हो। ४ पर-पाखण्डकी प्रशंसाकी हो। ५ पर-पाखण्डसे परिचय किया हो। सम्यक्त्वरूपी रत्न ऊपर मिथ्यात्वरूपी रज मैल लगा हो। जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

देश-चारित्र के सम्बन्धमें जो कोई अतिचार-दोष लगा हो उसकी मैं आलोचना करता हूं—

पहले व्रतके पाच अतिचार—

पहले स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रतमें जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करताहूं। १ क्रोधादिवश त्रस जीवोंको गाढ़े (कठिन) बन्धनसे बान्धा हो। गहरा घाव किया हो। ३ अवयवका छेदन किया हो। ४ अधिक भार लादा हो। ५ आहार पानीका विच्छेद किया हो। जो मैंने दिवस सम्बंधी अतिचार दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

दूसरे व्रतके पाच अतिचार—

दूसरे स्थूल मृषावाद विरमण व्रतमें जो कोई अतिचार-दोष

लगा हो उसकी मैं आलोचना करता हूं। १ सहसात्कार—किसी के प्रति झूठा कलङ्क लगाया हो। २ रहस्य करते देख कर कलङ्क लगाया हो। ३ स्त्री-पुरुष के मर्म प्रकट किये हों। ४ मृषा उपदेश दिया हो। ५ झूठे लेख लिखे हों। जो मैंने दिवस संबंधी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

तीसरे व्रतके पाच अतिचार—

तीसरे स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत में जो कोई अतिचार-दोप लग हो—उसकी में आलोचना करता हूं। १ चोरकी चुराई हुई वस्तु ली हो। २ चोरकी सहायता की हो। ३ विरोधी राज्य में व्यापारादि के लिये प्रवेश किया हो। ४ झूठा माप-तोल किया हो। ५ सरस वस्तु में नीरस वस्तु मिलाई हो। जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

चौथे व्रतके पाच अतिचार—

चौथे स्थूल मैथुन विरमणव्रतमें जो कोई अतिचार-दोप लगा हो उसकी मैं आलोचना करता हूं—१ पर स्त्रीको भाड़े-किराये आदिके वश करके आलाप-संलाप रूप गमन किया हो। २ वेश्या आदिके साथ आलाप-संलाप रूप गमन किया हो। ३ काम-कुचेष्टाएं की हों। ४ दूसरोंके विवाह करवाये हों। ५ काम भोग तीव्र अभिलाषासे सेवन किया हो। जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोप किये हों, वे सब दोप निष्फल हों।

पाचवे व्रतके पाच अतिचार—

पाँचवें स्थूल परिग्रह-विरमण व्रतमें जो कोई अतिचार-दोष

लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूं। १ खेत-घर आदि की मर्यादाका अतिक्रमण किया हो। २ सोने-चांदीकी मर्यादा का अतिक्रमण किया हो। ३ धन-धान्यकी मर्यादाका अतिक्रमण किया हो। ४ द्विपद-चौपदकी मर्यादाका अतिक्रमण किया हो। ५ सोने-चादीके सिवाय अन्य धातु अथवा गृह सामग्रीकी मर्यादाका अतिक्रमण किया हो। जो मैंने दिवस संबंधी अतिचार-दोष किये हो, मेरे वे सब दोष निष्फल हो।

छठे व्रतके पाच अतिचार—

छठे दिशि व्रतमें जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूं। १ ऊंची दिशाके परिमाणका अतिक्रमण किया हो। २ नीची दिशाके परिमाणका अतिक्रमण किया हो। ३ तिरछी दिशाके परिमाणका अतिक्रमण किया हो। ४ एक किसी दिशा-परिमाणको वढाया हो। ५ पथमें सन्देह सहित चलकर प्रमाणातिरेक किया हो। जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हो।

सातवें व्रतके पाच अतिचार—

सातवें उपभोग-परिभोग परिमाण व्रतमे भोजन सम्बन्धी जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूं। १ प्रत्याख्यान उपरान्त सचित का आहार कियाहो। २ सचित्त संयुक्त (अचित्त खजुर फलादि सचित्त गुठली सहित) का आहार किया हो। ३ अपक्व धान्यादिका भक्षण किया हो। ४ दुष्पक्व धान्यादिका भक्षण किया हो। ५ असार फलादिका भक्षण

किया हो। जो मैंने दिवस सम्बंधी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

पन्द्रह कर्मदान—

पन्द्रह कर्मादान सम्बन्धी जो कोई अतिचार-दोष लगा हो उसकी मैं आलोचना करता हूं।

१ ईंगालकम्मे, २ वणकम्मे, ३ साडीकम्मे ४ भाड़ीकम्मे, ५ फोड़ीकम्मे, ६ दंतवणिज्जे, ७ केसवणिज्जे, रसवणिज्जे ९ लक्ख-वणिज्जे, १० विषवणिज्जे, ११ जंतपीलणकम्मे, १२ निल्लंछण-कम्मे, १३ दवग्गिदावणया, १४ सरदहतलायपरिसोसणया, १५ असइजणपोसणया। जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

आठवे व्रतके पाच अतिचार—

आठवें अनर्थ दंड विरमणव्रतमें जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूं।:१ कंदर्प सम्बंधी वार्तालाप किया हो। २ भांड की तरह कुचेष्टाएँ की हों। ३ बिना प्रयोजन अधिक बोला हो। अधिकरण-शस्त्रका जोड़ किया हो। ५ उप-भोग-परिभोग अधिक बढ़ाया हो। जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

नववें व्रतके पाच अतिचार—

नववे सामायिक व्रतमें जो कोई अतिचार-दोष लगा हो. तो उसकी मैं आलोचना करता हूं। १ मनयोग सावद्य कार्योंमें प्रवर्ताया हो। २ वचन योग सावद्य कार्योंमें प्रवर्ताया हो।

३ काययोग सावद्य कार्यमें प्रवर्ताया हो। ४ सामायिककी सार-सम्भाल न की हो। ५ सामायिकका काल पूरा हुए बिना सामायिकका पारण किया हो। जो मैंने दिवस-सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

दसवें व्रतके पांच अतिचार—

दसवें देशावकासिक व्रतमें जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूं। १ मर्यादित क्षेत्रसे बाहरकी वस्तु मंगाई हो। २ मर्यादित क्षेत्रसे बाहर वस्तु भेजी हो। ३ शब्दके द्वारा भाव प्रदर्शित किये हों। ४ रूप दिखाकर भाव प्रदर्शित किये हों। ५ कोई पौद्गलिक वस्तु डाल कर भाव प्रदर्शित किये हों। जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

ग्यारहवें व्रतके पांच अतिचार—

ग्यारहवें पौषधव्रतमें जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, उसकी मैं आलोचना करता हूं। १ शय्या-संथारेका प्रतिलेखन नहीं किया हो अथवा असावधानीसे किया हो। २ शय्यासंथारेका प्रमार्जन नहीं किया हो अथवा असावधानीसे किया हो। ३ उच्चारप्रसवण-भूमि (उत्सर्ग भूमि) का प्रतिलेखन नहीं किया हो अथवा असावधानीसे किया हो। ४ उच्चार प्रसवण भूमिका प्रमार्जन नहीं किया हो अथवा असावधानीसे किया हो। ५ पौषधव्रतका सम्यक् प्रकारसे पालन न किया हो। जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार दोष किये हों, मेरे वे सब दोष निष्फल हों।

बारहवे व्रतके पांच अतिचार—

बारहवे यथा-संविभाग व्रतमें जो कोई अतिचार-दोष लगा हो. उसकी मैं आलोचना-करता हूं। १ सूझती (साधुओंके कल्पनीय) वस्तु सचित्त पर रखी हो। २ अचित्त वस्तुको सचित्त वस्तुसे ढक दिया हो। ३ कालका अतिक्रमण किया हो। ४ अपनी वस्तुको दूसरे की वताया हो। ५ मत्सर भावसे दान दिया हो। जो मैंने दिवस सम्बंधी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सब दोप निष्फल हों।

सलेखना के पाच अतिचार—

संलेखनाके सम्बंधमें जो कोई अतिचार-दोष लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूं। १ इस लोक सम्वन्धी चक्रवर्ती आदि के सुखोंकी वांछा की हो। २ परलोक सम्बंधी इन्द्रादिके सुखोंकी वाछा की हो। ३ असंयम जीवितव्यकी वांछा की हो। ४ बालमरणकी वांछा की हो। ५ कामभोगकी वाछा की हो। जो दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष किये हों, मेरे वे सव दोप निष्फल हों।

अठारह पाप स्थानक—

१ प्राणातिपात २ मृषावाद ३ अदत्तादान ४ मैथुन ५ परिग्रह ६ क्रोध ७ मान ८ माया ९ लोभ १० राग ११ द्वेष १२ कलह १३ अभ्याख्यान १४ पैशुन्य १५ परपरिवाद १६ रतिअरति १७ मायामृषावाद १८ मिथ्यादर्शन-शल्य।

जो मैंने अठारह पाप सेवन किये हों, मेरे वे सब पाप निष्फल हों।